दर्शन विशुद्धि

लेखक

पूज्यपाद् आचार्य देव श्री विजयचन्द्र सूरीश्वरजी
महाराज साहेबके शिष्यरत्न
शासनप्रभावक पूज्य गणिवर्य श्री भुवनविजयजी महाराज

प्रकाशक

श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक श्री संघ
उदयपुर

वीर स २५०८]   [विक्रम स २०३८

प्रकाशक :–

श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक श्रीसंघ

उदयपुर

प्राप्ति स्थान

श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक श्रीसंघ

श्रीसंघ

मालदास स्ट्रीट,

उदयपुर–३१३००१

प्रथम आवृत्ति– १५००

मूल्य— २.५० रु.

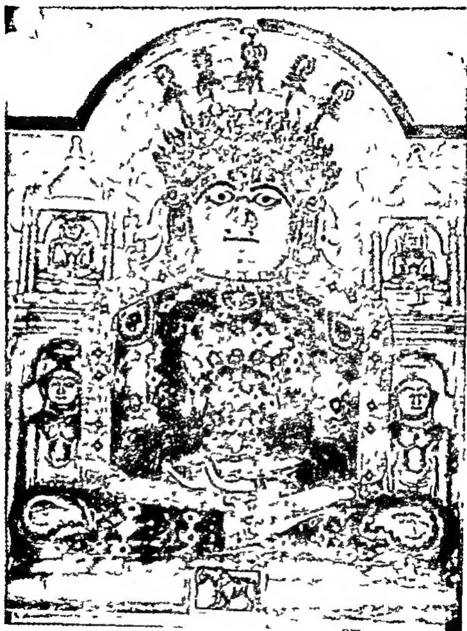
मुद्रक :–

विपिन बिहारी मेहता

त्तरूणा प्रिन्टर्स

भामाशाह मार्ग,

उदयपुर.



भावी तीर्थंकर देवाधिदेव श्री पद्मनाथ स्वामी
उदयपुर

निवेदन

सौराष्ट्र केशरी शासन प्रभावक पुज्य गणीवर्य श्री भुवन विजयजी महाराज साहब एवं मृदुभाषी पुज्य मुनिराज श्री यशोविजयजी महाराज गत वर्ष का चातुर्मास शिरपुर (खानदेश) मे यशस्वीरुप से परिपुर्ण कर वहा से माडवगढ तीर्थ के लिये छ री पालता सघ लेकर पधारे, वहा से मध्यप्रदेश सभाग का विहारपुर्ण कर उन्हैल पधारे। वही ८ दिनो कि स्थिरता मे पुज्य गणीवय श्री के उपदेश से श्री नागेश्वर तीर्थ का छ री पालता सघ निकाला गया। इन्ही दिनो उदयपुर श्री सघ को मुनिद्वय के पधारने की सुचना मिली तब तक तो मुनिवर चितौड पधार गये थे निश्चित समाचार प्राप्त होते हि श्री सघ का एक प्रतिनिधिमडल पाण्डोली पहुचा और वन्दन करने के बाद विधिवत पुज्य गणीवर्य श्री को उदयपुर मे इस वर्ष का चातुर्मास करने का भाव भरा निवेदन किया। गणीवर्य श्री ने भुपालसागर की यात्रा करते हुवे उदयपुर होकर श्री केशरीयानाथ की यात्रा करने कि अपनी इच्छा मे हमे अवगत कराया, और इसी क्रम मे उदययुर शहर मे पुज्य गणीवर्य श्री का प्रवेश हुवा।

प्रथम व्याख्यान सुनकर सभी श्रावक श्राविका मत्रमुग्ध हो गये एव सभी कि यही प्रबल माग रही कि पुज्य श्री का उदयपुर मे ही चातुर्मास कराया जाय। अनेक विध प्रार्थना करने पर भी

पुज्य श्री ने तव तक अपना मन्तव्य प्रगट नही किया और श्री केशरीयाजी को यात्रा का विहार कर दिया तव भारी संख्या मे श्रावक श्राविकाए केशरीयाजी पहुंचे और वहा भी पुर्ण हार्दिक भावना से चातुर्मास के लिये विनती की गई। इन्ही दिनो अहमदावाद, जयपुर, मारवाड आदि स्थानो के श्रावक वर्ग अपने स्थानों पर चातुर्मास करवाने के लिये पहले ही उपस्थित थे, परन्तु वहा भी किसी को कोई निश्चित उत्तर नही मिल सका सभी को एक हि मन्तव्य दर्शाया कि हम यहा से विहार कर सिधा पालीताना पुज्य आचार्य श्री के पास पहुंचेगे चुकि वहा से समाचार आये है कि पुज्य आचार्य श्री का स्वास्थ्य खराब है इस लिये हमारा वहा जाना अत्यन्त आवश्यक है। तब उदयपुर श्री संघ के कार्यकर्ता पुज्य श्री से एक पत्र लेकर पालीताना पहुंचे अनेक विध अनुनय विनय के पश्चात अन्ततोगत्वा पुज्य आचार्य महाराज साहव का स्वीकृतिमुलक आदेश प्राप्त हो हि गया–और वह आदेश पत्र लेकर सभी डुंगरपुर पहुचे जहा पुज्य गणीवर्य श्री विहार कर पहुंचे ही थे। पुनः पुज्य श्री से निवेदन किया गया और फलस्वरुप शासन देव कि असीम अनुकम्पा से अक्षयतृतिया को उदयपुर चातुर्मास करने कि जय बोला दी गई।

दिनांक १५–५–७७ को उदयपुर श्री संघ ने अपने परम्परागत रूप से नगर प्रवेश करवाया और तब से प्रतिदिन भारी संख्या मे सभी वर्ग एवं श्रावक श्राविका व्याख्यान का आस्वादन

लेने आने लगे। पुज्य गणीवर्य श्री के तात्विक व्याख्यानो मे सभी प्रभावित हुवे है। इसी अवधी मे अनेक धार्मिक अनुष्ठान एव बडी बडी तपश्चर्यायें भी हुई प्रमुख रूप से श्री शखेश्वर पार्श्वनाथ जी के अट्ठम तप, श्री गौतमस्वामिजी के छठ्ठ एव स्वस्तिक तप की आराधना उल्लास पुर्वक हुई। पचायती नोहरे मे इसी अनुक्रम म पर्वाधिराज पर्युषण महापर्व कि भव्य आराधना भी सम्पन्न हुई।

कालान्तर मे व्याख्यान क्रम मे "उपदेशमाला ग्रन्थ" का श्रवण, मनन करते हुवे हमारे मनमे "मूर्तिपूजा शाश्वत है तो अपने हि कुछ बन्धु उसका इतना प्रबल विरोध क्यो करते है ? ऐसा समस्यामुलक प्रश्न पैदा हुवा। इस प्रश्न का अत्यन्त मार्मिक तात्विक एव शास्त्रीय आधार पर, समाधानात्मक उत्तर देते हुवे पुज्य श्री ने सबका समुचित समाधान किया।

हमे लगा कि इस महत्वपूर्ण विषय पर पुज्य श्री कोई लेखबद्ध रचना लिखे। हमारी प्रार्थना स्वीकार कर पुज्य श्री ने बिलकुल माध्यस्त दृष्टी से "दर्शन विशुद्धि" नामक पुस्तक कि रचना की। इस महान कार्य के लिये उदयपुर श्री सघ पुज्य श्री का बहुत-बहुत ऋणी रहेगा। पुज्य श्री ने यह पुस्तक बडी उच्च भाषा मे लिखी है इसमे किसि के प्रति कोई द्वेश भावना रखे बिना 'विषय' पर शास्त्रीय आधार पर मार्गदर्शन किया है।

इस महत्वपूर्ण पुस्त कि प्रेश कॉपी तैयार करने में श्रीमति रोजमणी (धर्मपत्नि श्री उगरसिहजी गोरवाडा) का महत्व पूर्ण योगदान रहा है एवं सुचि में दिये गये धर्मानुरागी महानुभावों का आर्थिक योगदान और तत्परता से प्रकाशित करने मे तरुण प्रिन्टर्स का सहयोग रहा इन सभि के सद्प्रयासों के लिये हम सबका वहुत बहुत आभार मानते है।

अन्त मे आशा यहि है कि सभी मुमूक्ष जन इस मार्मिक पुस्तक का अध्ययन एवं मनन करके सारग्रहण कर अपने जीवन को सफल बनावे। इसी अभिलाषा के साथ–

भवदीय

के० एल० जैन

मन्त्री

श्री जैन श्वैताम्बर मूर्तिपूजक श्री संघ

उदयपुर (राज०)

देवाधिदेव श्री सहस्त्रफणा पार्श्वनाथ स्वामी
उदयपुर



पू. गणोदय श्री भुवन विजयजीमा मा. व मुनिश्री यशोविजयजी मा सा दर्शन करते हुए।

उपोद्घात

वि-सं- २०३४ की साल का चातुर्मास मेवाड़ की राजधानी उदयपुर शहर में होने जा रहा है चातुर्मास में अनेक धर्मानुष्ठान होने के साथ शासन प्रभावना के भी क्षेत्र में महान कार्य हुए हैं उनमें सबसे बड़ा महान कार्य तो यह हुआ की श्रीसंघ की कई वर्षों से विशाल उपाश्रय के लिए जगह खरीदने की भावना थी वह भावना भी इस साल चातुर्मास में पूर्ण हो गई है। चातुर्मास आराधनामय एवं अत्यन्त शांतिपूर्ण हुआ है।

मेवाड़ के महान तीर्थ केशरीयाजी, करेडा पार्श्वनाथ, चित्तोड़गढ़ वगैरे तीर्थों की यात्रा का तो अपूर्व लाभ मिला, महान तीर्थ केशरीयाजी की यात्रा के ध्येय से ही इधर की क्षेत्र स्पर्शना हुई है।

मेवाड़ एवं वागड़ प्रदेश के बहुत से क्षेत्रों की स्पर्शना की है गांवों गांव के जिनमंदिरों के दर्शन वंदन का अपूर्व लाभ प्राप्त हुआ है-मेवाड़ में करीबन प्रत्येक क्षेत्रों में प्राचीन जिन मंदिर विद्यमान है।

गांवों गांव में जैनी रहते थे उन्हीं के पूर्वजोंने भव्य मंदिर निर्माण करवाये है मगर सद्गुरुओं का संपर्क छूट जाने से वे मूर्ति

पूजा से विमुख वन गये है-इससे मंदिरो में आशातनाए भी बहुत हो रही है. जहा उपासना करने वाले नही है वहां और क्या होने वाला है।

इधर की परिस्थिति का माप निकाल के मंने यह "दर्शन विशुद्धि नामक छोटी सी पुस्तिका लीखी है इस पुस्तिका में प्रतिमा पूजन भी सामायिक प्रतिक्रमण पौपधादि अनुष्ठानो की माफक शास्त्र परंपरा मान्य अनुण्ठान है, प्रतिमा पूजा आज कल से नही मगर अनादिकाल से है जिनप्रतिमा जिनसारिखी-याने जिनप्रतिमा साक्षात् जिनेश्वर के समान है-इन सव वातो की पुस्तिका मे सिद्धि की गई है।

प्रतिदिन जिन प्रतिमा के दर्शन वंदन एवं पूजन से क्या क्या आत्मिक लाभ होते है वह वरावर वताया गया है श्री भगवती सूत्र ठाणांग सूत्र रायपसेणी सूत्र जिवाभिगम सूत्र उपादगांग सूत्र महा-कल्प सूत्र प्रशमरति सूत्र वगेरे सुत्रो के पाठो पर से प्रतिमा पूजन की सिद्धि की गइ हैं सूत्रो के पाठ भी दीए गये है-

जैसे की प्रदेशी राजा का जीव यहां से मृत्यु पाकर सौधर्म देवलोक में सूर्याभ नामक देव हुआ है वहां पहले रत्नमय पुस्तकका वाचन करके धार्मिक व्यवसाय करने की इच्छापूर्वक जहां नंदा नाम की बावडी है वहां जाते है और बावड़ी में हाथ पांव का पक्षालन करने पूर्वक शरीर के सर्व अवयवो की शुद्धि कर लेते है

उसके बाद बावडी मे से चादी के कलश मे निर्मल जल एव कमल के फूल हाथमे धारण करके।

जेणेव सिद्धाययणे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता सिद्धाययणस्स पुरत्थि मिल्लेण दारेण अणुपविसइ जेणेव देवच्छदए जेणेव जिण पडिमाओ तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता जिण पडिमाण आलोए पणाम करेइ करेइत्ता लोमहत्थय गेण्हइ, गेण्हित्ता जिणपडिमाण लोमहत्थएण पमज्जइ पमज्जइत्ता जिण पडिमाओ सुरभिणा गधोदएण ण्हावेइ ण्हावेइत्ता सरसेण गोसीस चदणेण गायाइ अणुलिपइ अणुलिपइत्ता जिणपडिमाण अहयाइ सेयाइ देवदूस जुयलाइ नियसेइ नियसेइत्ता पुप्फारुहण मल्लारुहण गधारुहण वण्णरुहण चुण्णारुहण आभरणारुहण करेइ।

जहा सिद्धायतन है वहा सूर्याभदेव सर्व-ऋद्धि के साथ पहुचता है और सिद्धायतन मे पूर्व दिशा के द्वार मे प्रवेश करके जहा देव छदक एव जिन प्रतिमाए है वहा पहुच के जिनप्रतिमाओ का दर्शन करके प्रणाम करता है प्रणाम करके मयूर पिच्छसे जिनप्रतिमाओ का प्रमार्जन करता है उसके बाद पवित्र जल मे अरिहत परमात्मा की प्रतिमाओ का अभिषेक करता है उसके बाद अ गलूच्छणाओ से प्रतिमाजी को पोछता है पोछने के बाद गोशीर्ष चदन से विलेपन करता है दिव्यवस्त्रयुगल प्रतिमाजी पर चढाता है जैसे जिनमदिरो मे प्रतिमाजी पर भव्य अ ग रचना होती है जिसको आगी कहते है-

और सत्तरा भेदी पूजा में अभीभी वस्त्र युगल प्रभु के समीप रखने में आते है-देवदूस्य पहनाने के बाद सूर्याभ ने प्रतिमाजी पर पुष्प चढाए सुगंधमय पदार्थों का प्रतिमाजी पर आरोपण किया-मुगट अलंकार पहनाए-प्रतिमाजी के समक्ष स्वस्तिक दर्पण वगेरे अष्ट मंगल का आलेखन कीया, उसके बाद "धूवं दाऊण जिणवराणं" जिनेश्वर भगवान के समक्ष धूप जला के धूप पूजा की।

"धूव दाऊण जिणवराणं"

इस रायप्पसेणी सूत्र के पाठ पर से सिद्ध होता है की जिन प्रतिमा जिनेश्वर के समान है क्योंकी पाठमे साफ लिखा है की जिनेश्वर के समक्ष धूप कीया-धूप करने के बाद एक सो आठ अर्थ गंभीर श्लोको से प्रतिमाजी समक्ष परमात्मा की स्तवना कीया उसके बाद नमुत्थुण के पाठ से चैत्य वंदना की-यह सारी विधि रायप्पसेणी सूत्र मे विस्तृत विवेचन से लीखी हुई है मैंने पाठ का संक्षेप करके विवेचन दीया है अरिहंत की प्रतिमा को साक्षात अरिहंत समज के देव ओ सर्वोत्तम द्रव्यो से परमात्मा की पूजा उपासना करते है वह शास्त्रो मे पढते है तब रोम रोम खडे हो जाते है और मन मे विचार आते है की समकिति देवो के हृदय में जिनेश्वर परमात्मा के प्रति कीतनि विवेकपूर्ण भक्ति होती है-सूर्याभ ने जैसे अरिहत परमात्मा की विधिपूर्वक पूजा की है वैसे ही यहा पर भी प्रत्येक जिन मंदिरो मे पूजा उपासना होती है समकित की

करणी में चाहे देवलोक हो के मृत्यु लोक हो कही अ तर नही रहता है महान गीतार्थ पुरुषो की परपरा से जो आचार चला आ रहा है उसे जीत आचार कहने है उस आचार मे भी पूजा उपासना करने वाले महान पुन्य के भागी बनते है जो के समकिति देव तो धर्मबुद्धि से शाश्वत अरिहत परमात्मा की प्रतिमाए पूजते है मगर जीत आचार मे भी शुभकरणी की जाय तो पुन्य बध का कही निषेध नही कीया गया है विशेष सूर्याभदेव का अधिकार इसी पुस्तक में दीया हुआ है वाचक वहां मे पढ लेवे उपोद्घात मे तो सूत्र पाठ का थोडा नमुना बताया है पुस्तिका में तो बहुत से पाठ दीये है ऐसा ही जिवाभिगम सूत्र मे विजयदेव का अधिकार आया है-ज्ञाता सूत्र में द्रोपदी का अधिकार आया है ।

हिंसा हिंसा पुकार के यदि जिन पूजा का निषेध किया जाता है तो मुनिविहार सुपात्रदान स्वामिवात्सल्य, पुस्तक छपाना, दूर दूर बिराजे हुए साधु साध्वीजीओ को दर्शनवदनार्थ जाना इन सभी धर्मप्रवृत्तिओ का निषेध करना पडेगा-क्योकि हिंसा का दोप इन सभी क्रियाओ मे थोडा बहुत लगेगा ही-इसीलिए जहा महान लाभ होता हो वहा सामान्य दोप गीनती में नही लीया जाता है-इस बात पर पुस्तक में विस्तृत विवेचन दीया है अनुवध हिंसा, हेतु हिंसा, और स्वरुप हिंसा ये हिंसा के तीन प्रकार है उसमे मिथ्या द्रष्टिओ को रोद्र परिणाम से एव जिनाज्ञा का उल्लघन करने से जो हिंसा लगती है वह अनुवध हिंसा है प्रत्येक कार्य में जतना का

पालन नही करने मे हिसा लगती है वह हेतुहिंसा और मनमे सम्पूर्ण अहिसक भाव होने पर भी सुपात्रदान, स्वामिवात्सल्य मुनि को विहार में नदी पार करने मे,श्रावक को जिनपूजा वगेरे धार्मिक अनुष्ठानो मे जो सामान्य दोष लगता है वह स्वरुप हिंसा है इस तरह से सूक्ष्म बुद्धि से हिसा अहिसा का स्वरुप जानने से मन का संपूर्ण समाधान हो शक्ता है स्वरुप हिंसा देखने पूरती सावद्य है मगर परिणामे निरवद्य है, जमाली वगेरे ने उपर उपर से दया धर्म का वहुत पालन कीया मगर जिनाज्ञा भंग रुप अनुबंध हिंसा का दोष लगाने से आखिर वे कष्ट को ही प्राप्त हुए है मगर दया धर्म का वास्तविक फल उन्हे नही मिला है दया धर्म का मूल है मगर जिनाज्ञापूर्वक की दया ही वास्तविक धर्म है यह बात भूलने योग्य नही है ।

जिसको देखके आत्मा के ज्ञानादि गुणो का एव आत्मा के शुद्ध स्वरुप का चितन होवे उसी को चैत्य कहते है इसलीए जिन मंदिर एवं जिन प्रतिमाही चैत्य शब्द का वास्तविक अर्थ होता है इस बात पर एवं मानसिक एकाग्रता के लिए प्रतिमा का आलंबन कितना जरुरी ही है इस बात पर भी पुस्तिका मे काफी प्रकाश डाला है ।

पुस्तिका मे आगम शास्त्र के पाठ उपरांत पू–कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्राचार्यजी पू–आनंदघनजी पू–उपाध्याय यशोविजयजी पू–

उपाध्याय देवचद्रजी वगेरे महापुरुषो के कड जगो पर श्लोक एव स्तवनो की गाथाए पर विवेचन दीया गया है पू-आनदघनजी के नोवे सुविधिनाथ भगवान के स्तवन पर का पुरा विवेचन पुस्तिका मे छपाया है। उस स्तवन पर के विवेचन का वाचन करने से वहुत मे सशय विच्छिन्न हो जायगे।

मुनिश्री यशोविजयजी ने प्रुफ वगेरे का ससोधन अच्छे ढग से कीया है प्रत्येक शुभ प्रवृत्ति मे मुनिश्री का सहयोग रहता है इसलीए उनको आशीर्वाद देता हु की ऐसे शुभ कार्यो में उनका मन निरतर लगा रहे।

उदयपूर श्री जैन श्वेतावर मूर्तिपूजक श्रीसघ ने पुस्तक प्रकाशन का कार्य करके सम्यग्ज्ञान प्रचार का अपूर्व लाभ उठाया है इस वदल श्रीसघ को धन्यवाद दे रहा हु जिन जिन मुमुक्षु भाई बहनो ने पुस्तक प्रकाशीत होने के पहले इस ज्ञान प्रचार के शुभ कार्य मे सहयोग दीया है वे भी धन्यवाद के पात्र वने है।

पुस्तक में जो अशुद्धिया रह गड है उसका शुद्धिपत्रक छपाया गया है वाचन के समय शुद्रिपत्रक का अवश्य ख्याल रखे।

पुस्तक में शास्त्र विरुद्ध कुछ भी लीखा गया हो तो मिच्छामि दुक्कडम् दे रहा हु।

वांचक इस पुस्तिका का वांचन मनन कर के इसमें से सार ग्रहण कर यथाशक्ति आचरण करके अपने जीवन को सफल बनावे इसी अभिलाषा के साथ उपोद्घात पूर्ण कर रहा हूं।

वि- सं- २०३४
कार्तिक शुक्ला पंचमी
अजितनाथ जैन
धर्मशाला
उदयपुर
(राजस्थान)

मुनिभुवन विजय गणी





पू आचार्य देव श्री विजय चन्द्र सुरीश्वरजी
मा सा के शिष्यरत्न शासन प्रभावक पूज्य गणीवय
श्री भुवन विजयजी मा सा

दर्शन विशुद्धि

सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र स्वरूप मोक्ष मार्ग की सिद्धि के लिये जैन धर्म शास्त्रों में अनेक धर्मानुष्ठान बताये गये हैं। धर्मानुष्ठान यदि मोक्ष पद की प्राप्ति के ध्येय से किये जाते हैं तो उन्हें अमृतानुष्ठान कहे जाते हैं और जो मान प्रतिष्ठा एवं भौतिक सुख की प्राप्ति के ध्येय से अनुष्ठान किये जाते हैं तो उन्हें विषानुष्ठान कहे जाते हैं। भीतर के अशुभ आशय से कितने भी धर्मानुष्ठान किये जायें उसमें वास्तविक सिद्धि नहीं मिलती है। धर्मानुष्ठान यदि शुद्धाशय पूर्वक किये जायें तो आखिर तात्त्विक फलस्वरूप मोक्ष पद की प्राप्ति होती है। भीतर के आशय को तो अपन स्वयं ही जान सकते हैं अथवा अतिन्द्रिय ज्ञानी पुरुष जान सकते हैं। ऊपर ऊपर से कई महान धर्मात्मा दीखते हैं मगर भीतर से उनके मन परिणाम इतने दूषित होते हैं कि सच्चे अर्थ में वे धर्मात्मा नहीं कहे जा सकते हैं। भीतर के शुद्धाशय के प्रभाव से धर्म क्रिया अमृत क्रिया बनती है वहां क्रिया को भीतर का अशुद्धाशय विष क्रिया में पलट देता है। अमृत क्रिया के प्रभाव से आत्मा आखिर अजरत्व एवं अमरत्व को प्राप्त कर लेता है जबकि विषक्रिया के प्रभाव से आत्मा चौरासी के चक्कर में भटकता ही रहता है।

दर्शन विशुद्धि का महान आलंबन

आत्मा मे अनत गुण है मगर उन गुणो मे सम्यग् दर्शन सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र ये मुख्य गुण है। इन्हीं के विकास के लिये एव इन्ही गुणों की आराधना के लिये आगम शास्त्रों मे बहुत से अनुष्ठान बतलाये गये हैं। उसमे प्रतिदिन जिन मंदिर में जाकर के जिनप्रतिमा का दर्शन, वंदन एवं पूजन करना वह दर्शन विशुद्धि का महान आलंबन हैं। ज्योति से ज्योति प्रगट होती है वैसे ही परमात्मा के दर्शन से ही अन्त में आत्म दर्शन होता है। जिन प्रतिमा के दर्शन से आत्म स्वरुप की पहचान होती है। जिन प्रतिमा के दर्शन, पूजन के समय भवि जीव ऐसी भावना करता है कि हे नाथ ! जैसा शुद्ध स्वरूप आपका है वैसा ही तत्व द्रष्टि से मेरी आत्मा का है मगर नाथ ! मेरी आत्मा पर आठ कर्मो के आवरण लगे हुए है उससे मेरा शुद्ध स्वरूप कर्मो के आवरण से छाया हुआ है और आपने कर्मो के आवरणों को हटा कर अपना शुद्ध–स्वरूप प्रगट कर लिया है। नाथ ! आप ज्योतिर्धर बने हुए हैं जबकि सेवक का आत्मा कर्म पड़ल से छाया हुआ है। आप ही की कृपा से यदि कर्मों के पडल हट जाय तो ज्योत से ज्योत मिलने में क्या देर लगने वाली है याने कर्मो के बंधन तोड़ के सेवक का आत्मा भी

निमल ज्योति स्वरूप बन सकता है। नाथ ! आप ही ने फरमाया है कि सत् पुरुषार्थ के बल से कर्मों के बधन तोड के कोई भी भवि जीव अन्त में परमात्म पद को प्राप्त कर सकता है। इलिका भमरी के ध्यान से भमरीपद को प्राप्त कर लेती है वैसे ही परमात्मा के ध्यान से आत्मा परमात्म पद को प्राप्त कर लेता है। प्रतिमा के आलबन से ऐसा चिंतन बडी आसानी से होता है। प्रभु प्रतिमा के योग से जीव को अपनी प्रभुता का ख्याल आता है। पर्याय दृष्टि से आत्मा और परमात्मा के बीच कितना भी अन्तर क्यो न हो ? मगर द्रव्य दृष्टि से अथवा निश्चय दृष्टि से लव लेश भी अन्तर नही है। निश्चय दृष्टि से जो सिद्ध का स्वभाव है वही एक निगोद मे रहे हुए जीव का स्वभाव हैं। जो अन्तर है वह व्यवहार द्रष्टि मे है और वह अन्तर इतना ही है कि ससारी जीव कर्मों से आच्छादित है और सिद्ध जीव मुक्त बने हुए है। ऐसा स्वरूप का दर्शन हो जाय वही सम्यग् दर्शन है तथा वह प्रतिमा का आलबन लिए बिना होना बहुत कठिन है।

अध्यवसायो का सामर्थ्य

जिन प्रतिमा के दर्शन के समय भीतर के मन परिणाम एव अध्यवसाय इतने निर्मल हो जाते है कि वह अध्यवसाय के प्रभाव

से जन्म जन्म के कर्म मल आत्मा पर से दूर हो जाते हैं। आत्मा के शुद्ध अध्यवसायों मे इतना जबरदस्त सामर्थ्य है कि कर्म उसके सामने टीक ही नही सकते हैं। जैसे अन्धेरे का क्या सामर्थ्य है कि वह सूर्य के किरणों के सामने टिक सके ?

शुभ अध्यवसाय प्रतिमा के आलंवन से सहजतया उत्पन्न हो जाते है। जिन प्रतिमा का स्वरुप ही वीतरागी होता है तथा वह स्वरुप इतना भाववर्द्धक एवं आह्लादक होता है कि भवि जीव दर्शन करते समय सभी सांसारिक कार्यों को भूल जाता है और उसका मन वीतरागी स्वरुप मे लीन बन जाता है। आलंवन के विना मन को एकाग्र करना वहुत कठिन है। सामने कुछ प्रतीक होता है तव ही मन एकाग्र वनता है और मन की एकाग्रता विना धार्मिक जीवन मे कोई सफलता नही है।

प्रतिमा दर्शन से आर्द्रकुमार एवं शय्यंभव भट्ट को सम्यक्त्व प्राप्ती

प्रशमरस झरती तथा शांत रस नितरती जिन मुद्रा के आलंबन से तो मन कभी-२ इतना तदाकार वन जाता है कि भीतर की सुषुप्त चेतना जागृत हो जाती हैं। आर्द्र कुमार अनार्य देश मे उत्पन्न हुए थे। वहां उनको आत्म कल्याण के लिए कोई साधन नही था। सिर्फ अभयकुमार ने भेजी हुई जिन प्रतिमा के

दर्शन से ही उनका सम्यक्त्व परिणाम पुन जागृत हुआ था और आखिर वे प्रयत्नपूर्वक आर्यदेश मे पहुचे और दीक्षा अगीकार कर ली तथा सभी कर्मो का क्षय करके अन्त मे मोक्ष में गये। यह उल्लेख सूयगडाग सूत्र की निर्युक्ति मे पूज्य भद्रबाहु स्वामी ने करीबन् तेइस सौ वर्ष पहले किया हुआ है। पूज्य भद्रबाहु स्वामी ने न तो रजोहरण भेजने का उल्लेख किया है और न मुहपत्ति भेजने का सिर्फ जिन प्रतिमा भेजने का साफ साफ शब्दो मे उल्लेख किया है। वह उल्लेख नीचे के श्लोक मे ह —

"पीतीय दोण्ह दूओ, पुच्छणमभयस्स पत्थवे सोउ।
तेणावि सम्मदिट्ठि ति होज्ज पडिमा रहे मिगया।।"

आर्द्रकुमार और अभयकुमार के बीच मैत्री सम्बन्ध होने के बाद अभयकुमार ने आर्द्रकुमार को प्रतिबोध करने के लिये भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा भेजी है उस बात का इस गाथा में स्पष्ट उल्लेख है मगर मुहपत्ति अथवा रजोहरण भेजने का किसी प्राचीन गाथा मे उल्लेख नही आया है।

वैसे ही दशवैकालिक सूत्र के रचयिता सय्यभव स्वामी को भी जिन प्रतिमा के दर्शन से ही प्रतिबोध हुआ था। दशवैकालिक सूत्र की निर्युक्ति में पूज्य भद्रबाहु स्वामी ने स्पष्ट शब्दो मे लिखा है —

सेज्जंभव गणधर जिण पड़िमां दंसणेणं पड़िबुद्धं ।
मणग पिअरं दसकालियस्स निज्जूहणं वदे ।।

सय्यभव स्वामी मनक मुनि के संसारी पिता थे। मनक मुनि का आयुस्य अल्प होने से उनके उद्धार के लिये पूर्व वगैरे शास्त्रों के आधार पर से दशवैकालिक सूत्र की जिन्होंने रचना की ऐसे सय्यभव स्वामी को मैं वंदना करता हू । यह उल्लेख पूज्य भद्रबाहु स्वामी का है तथा वे जैन धर्म के स्तम्भ कहलाते हैं। उनके वचन मे यदि विश्वास नही रखा तो फिर जैनी कहलाने का अर्थ ही क्या है ?

श्रमण भगवान महावीर प्रभु के पाच में गणधर सुधर्मा स्वामी के शिष्य चरम केवली जबुस्वामी हुए, जंबुस्वामी के प्रभव स्वामी हुए और प्रभव स्वामी के सय्यंभव स्वामी हुए। प्रभव स्वामी ने अपना आयुष्य अल्प जान कर उपयोग लगाया कि मेरे पीछे गणनायक अथवा पट्टधर कौन बनेगा ? अपने समुदाय मे वैसा कोई महापुरुप उनके ध्यान में आया नहीं फिर उन्होने पर समुदाय मे उपयोग लगाया तो सय्यभव भट्ट पर उनकी नजर पड़ी, उस समय सय्यभव ब्राह्मण राजग्रही मे यज्ञ कर रहे थे। उनको प्रतिबोध करने के लिये दो साधुओं को प्रभवस्वामी ने भिक्षा के लिये जहा यज्ञ हो रहा था वहां भेजा और उनको कहा कि वहां जाकर सय्यभव भट्ठ को यह सुनाना कि "अहो कष्टं अहो कष्टं तत्व न

विजायते।" बडे कष्ट की बात है कि यह यज्ञ कर रहा है मगर तत्व नहीं जानता है। सय्यभव भट्ट दरवाजे के पास ही खडा था उसके कान में ये शब्द पडे वह सोचने लगा कि ये तपस्वी मुनि जिनका मोह शान्त हो गया है वे कभी झूठ नहीं बोलते हैं। मैं तत्व जाने बिना ही यज्ञ कर रहा हू ऐसा इन्होंने कहा है तो फिर तत्व क्या होगा ? यज्ञ विधि कराने वाले उपाध्याय को पूछा मुझे बताओ कि तत्व क्या है ? उसने कहा कि वेद ही तत्व है। सय्यभव भट्ट को यह बात रुचि नहीं, उन्होंने म्यान में से तलवार खींची और अध्यापक से पूछा कि बताओ तत्व क्या है ? भय के मारे उपाध्याय बोला—इस यज्ञ स्तम्भ के नीचे शांतिनाथ भगवान की प्रतिमा है उसके दर्शन से ही आपको तत्व मिलेगा। यज्ञो में नारद अथवा दूसरे कोई उपद्रव न मचावे इसलिए यज्ञस्तम्भ के किसी एक भाग में जिन प्रतिमा रखने का उस वक्त रीवाज जैसा हो गया था। जिन प्रतिमा के दर्शन होते ही सय्यभवभट्ट को प्रतिबोध हो गया याने सम्यक्त्व प्राप्त हो गया फिर तो वे अपनी सगर्भा पत्नी को छोड कर प्रभव स्वामी के पास पहुचे और धर्म का स्वरूप-समझ कर उनके पास दीक्षित बन गये। गुरु निश्रा म अध्ययन करके चौदापूर्वी बने। अब आप समझ लो कि जिन प्रतिमा के आलंबन से भवी जीव पर क्या महान उपकार होता है ? कोटी कोटी मनुष्य प्रभु प्रतिमा को सिर झुकाते ... प्रतिष्ठा के द्वारा उसमे परमात्म

स्वरुप की स्थापना करके लाखों करोड़ों भक्तजन जिसकी पूजा उपासना करके अपने जन्म को सफल मानते है। उस आलंबन भूत प्रतिमा के लिए वह तो जड़ है पत्थर है भाठा है ऐसे तुच्छ शब्दों का प्रयोग करना वह सज्जनों को बिलकुल शोभा नही देना है।

वैसे तो आगम भी कागज पर अथवा ताड़ पत्र पर लिखे हुए हैं वह भी तो जड ही है, ओघा मुहपत्ती वगैरह धर्म के उपकरण भी तो जड़ ही है उनसे जब लाभ माना गया है तो जिन प्रतिमा के आलंबन से भी लाभ मानने में दिक्कत क्या है ? आगम के आलंबन से ज्ञान का प्रकाश मिलता है वैसे ही जिन प्रतिमा के दर्शन से सम्यक्त्व का प्रकाश मिलता है। सम्यक्त्व के आलंबन को मिथ्यात्व मान लेना वह तो महा मोहनीय कर्म का भी उदय समझा जायेगा, मिथ्यात्व मोहनीय के तीव्र उदय के बिना ऐसे भवोदधितारक आलंबन के प्रति आत्मा मे अरुचि का भाव कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकता ?

तत्वार्थ सूत्र में पूज्य–उमास्वाति महाराज ने दो हजार वर्ष पहले फरमाया है कि सम्यक्त्व दो प्रकार से होता है। उसमें लिखा है :—

"तन्निसर्गादधिगमाद्वा"

तत्वार्थ का सम्यग् श्रद्धान ही सम्यक्त्व है। वह सम्यक्त्व निसर्ग और अधिगम दो प्रकार से होता है उसमें स्वभाविक तथा

कम का क्षय क्षयोपशम अथवा उपशम होने मे जो सम्यक्त्व होता है वह निसर्ग कहा जाता है जैसे मरुदेवी माता को सम्यक्त्व हुआ था। जिनवाणी के श्रवण मे अथवा जिन प्रतिमा के दर्शन से जो सम्यक्त्व होता है वह अधिगम सम्यक्त्व कहा जाता है। जैसे तत्वार्थ सूत्र की टीका मे महान आचार्य श्री हरिभद्रसूरीजी ने लिखा है कि —

"प्रतिमादि बाह्य निमित्तमाश्रित्य
तत्वार्थ श्रद्धान भवति।"

याने जिन प्रतिमादि बाह्य निमित्तो के आलबन मे तत्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यग् दर्शन जो जीव को होता है उसे अधिगम सम्यक्त्व कहा गया है।

जिनेश्वर भगवान की प्रतिमा का दर्शन, वदन, पूजन वगैरह दर्शन गुण के आलबन है वैसे ही आगम शास्त्र वगैरह सम्यग् ज्ञान गुण के आलबन है। सूत्र सिद्धात का स्वाध्याय करने से ज्ञान गुण का विकास होता है-वाचना, पृच्छना, परावर्तना, धर्म कथा, अनुप्रेक्षा वगैरह स्वाध्याय के पाच प्रकार है। गुरु भगवत अपने शिष्य को वाचना दे वह वाचना स्वाध्याय। शिष्य विनम्र भाव से शास्त्र की बात पूछे तो उसके मन का समाधान कर देना वह पृच्छना स्वाध्याय है। जो शास्त्र कठस्थ किये है उसको दोहराना वह परावर्तन स्वाध्याय है। धर्म कथा या धर्म का उपदेश देना

वह धर्मकथा स्वाध्याय है तथा सूक्ष्म बुद्धि से तत्त्वार्थ का चिंतन करना वह अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है। इस प्रकार स्वाध्याय के पाच भेद हैं। स्वाध्याय से आत्मा के ज्ञान गुण का अवश्य विकास होता है। रजोहरण मुहपति वस्त्र पात्र वगैरह चारित्र धर्म के उपकरण है। उनके द्वारा चारित्र गुण की सांगोपांग आराधना हो सकती हैं। यों तो सम्यग् दर्शनादि तीनों आत्मा के गुण है। आत्मा अरुपी है तो उसके गुण भी अरुपी होते है मगर अभी जिसका विवेचन कर गये है वे सब साधन है, साधन के बिना साध्य की सिद्धि नही होती।

ज्ञान गुण के साधन सूत्र सिद्धात है, उसका आलंबन भी लिया जाता है। ओघा मुहपत्ति वगैरह चारित्र धर्म के जो साधन हैं उसका भी आलबन लिया जाता है तो फिर सम्यग् दर्शन का महान आलंबन जिन मदिर और जिन प्रतिमा है, उसका आलंबन लेना भी तो अत्यन्त जरूरी है ?

प्रतिमा पूजन भी शास्त्र मान्य अनुष्ठान

सामायिक प्रतिक्रमणादि जैसे शास्त्रविहित और शास्त्र मान्य अनुष्ठान है वैसे ही जिन प्रतिमा का दर्शन, वंदन एवं पूजन भी शास्त्र विहित एवं शास्त्र मान्य अनुष्ठान है। रायप्पसेणी सूत्र मे सूरियाभ देव एव जीवाभिगम सूत्र में विजयदेव ने सौधर्म देवलोक

में शाश्वत जिन प्रतिमाए है वहा उन देवो ने शाश्वत जिन प्रति-माओ की विलकुल शास्त्र विधि अनुसार पूजा की है और वह सारी विधि रायप्पसेणी सूत्र मे सूरियाभदेव के अधिकार मे वताई गई हैं। अष्टप्रकारी द्रव्यपूजा के बाद वहा सूरियाभ देव ने नमुत्थुण का पाठ बोल कर भाव पूजा भी की है। इस पुस्तक में आगे इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। जैसे सूरियाभ देव ने शास्त्रविधि अनुसार जिन प्रतिमा की पूजा की है वैसे ही ज्ञाता सूत्र मे साफ साफ शब्दो मे फरमाया है कि द्रोपदी ने भी सूरियाभ देव की माफक शास्त्रविधि अनुसार जिन प्रतिमा की पूजा की है। ज्ञाता सूत्र मे पाठ इस मुताबिक है —

"जहा सूरिया भो जिणपडिमाओ, अच्चेई तहेव भणियव्व जावधूव डहइ धुवडहित्ता वाम जाणु अचेइ।

जाव कट्टु एव वयासि 'नमो'त्थुण अरिहताण भमवताण जाव सपत्ताण वदइ नमसइ

नमसिता जिण घराओ पडिनिक्खमई

पडिनिक्खमाओ जेणेव अ'तेउरे तेणेव,उवागच्छई।"

यह ज्ञाता सूत्र का पाठ क्या सूचित कर रहा है? इतना स्पष्ट जिन प्रतिमा का ज्ञाता सूत्र मे पाठ होने पर भी मूर्तिपूजा

नही मानने वाले बोल देते है कि मूर्तिपूजा शास्त्र में कहां लिखी है ? शास्त्र में मूर्ति पूजा के पाठ है ही नहीं ? ऐसा बोलने में कितना कर्म बंध होता है ? जहां एक अंधा आदमी भी पढ़ सके वैसे जगह-२ पर शास्त्रों में मूर्ति के पाठ है। वहां बोलना की मूर्तिपूजा शास्त्रों मे है ही नही ? वह सूत्र सिद्धांत का अपलाप करने जैसी बात है।

ज्ञाता सूत्र मे द्रोपदी के अधिकार मे स्पष्टतया प्रतिमा पूजन का अधिकार है। वहां द्रोपदी पहले जिन प्रतिमा की पूजा करती है बाद धूप जला कर धूप पूजा करती है और आखिर भावस्तव स्वरुप नमुत्थुणं का पाठ बोलकर चैत्यवंदन करती है। सब विधि करके जिन मंदिर में से निकल कर अपने अन्तःपुर में प्रवेश करती हैं। द्रोपदी के विषय मे इसी पुस्तक में आगे और भी विस्तृत विवेचन किया जायेगा। यहां तो इतना ही उल्लेख करने का है कि सामायिक प्रतिक्रमणादि शास्त्र मान्य अनुष्ठान है वैसे ही प्रतिमा पूजन भी शास्त्र परम्परा मान्य अनुष्ठान है। इस बात की पुष्टि के लिये रायपसेणी सूत्र एव ज्ञाता धर्मकथा वगैरह सूत्रों का हवाला दिया गया है।

निक्षेपाओं की व्याख्या

नाम स्थापना, द्रव्य एवं भाव ये चार निक्षेप कहे जाते है। कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचंद्राचार्यजी फरमाते है कि—

'नामाकृति द्रव्य भावै, पुनतस्त्रिजगज्जनम्
क्षेत्रे काले च सर्वस्मिन्नर्हत समुपास्महे ।।"

नाम आकृति, द्रव्य और भाव के द्वारा सर्व क्षेत्र एव सर्व-काल मे तीनो जगत के आत्माओ को पवित्र करने वाले देवाधिदेव श्री अरिहन्तपरमात्माओ की हम उपासना करते है। इस गाथा मे साढे आठ सौ वर्ष पहले चारो निक्षेपो मे श्री अरिहत परमात्मा की स्तवना की गई है क्योकि जिनका भाव निक्षेप सच्चा है उनके चारो निक्षेप सच्चे कहे गये है। देवाधिदेव तीर्थ करो को भक्तजन चारो निक्षेप मे भज सकते है। तीर्थ कर परमात्मा समवसरण में बैठकर जब देशना देते है तब भाव निक्षेप मे तीर्थ कर कहे जाते है। उन्ही के महामगलकारी नाम का स्मरण करना वह नाम निक्षेप कहा जाता है।

जिन प्रतिमा जिन सारिखी

भविष्य मे श्रेणिक वगैरह जो तीर्थ कर होने वाले है अथवा मोक्ष में गई हुई तीर्थ कर की जो आत्माए है उन्हे द्रव्य निक्षेप की अपेक्षा तीर्थ कर माने जाते है। तीर्थ कर परमात्मा इन चारो निक्षेपो से पूजनीय है जैसे राजा का कुवर जो अभी राजा नही बना है मगर भविष्य मे राजा बनने वाला है उसका भी प्रजा आदर बहुमान करती है वैसे ही श्रेणीक महाराजा अभी पहली

नरक मे है मगर अगली चौविशी में प्रथम तीर्थंकर वनने वाले है तो उनका द्रव्य निक्षेप से अभी भी आदर वहुमान किया जा सकता है-अगली चौवीशी मे श्रेणीक पदमनाभ नामे प्रथम तीर्थंकर होवेगे-उनका अभी से उदयपुर शहर मे भव्य मंदिर वना हुआ है और उनकी प्रतिमा का पूजन अर्चन वडे ठाठ से हो रहा है।

भगवान महावीर का जीव मरीची के भव में त्रिदंडी के वेश मे था और उस समय भरत चक्रवर्ति ने उनको वंदना की है और साथ साथ खुलासाभी दे दिया की मै तुम्हारे इस त्रिदडी के वेप को वंदना नहीं कर रहा हू मगर तुम भविप्य मे तीर्थंकर वनने वाले हो उसी पद को मै वंदना कर रहा हुं-इसीलिए जो तीर्थंकर होने वाले है और हो गये हैं वे भी वंदनीय पूजनीय है। श्री ठाणांग सूत्र मे जो चार प्रकार के सत्य का प्ररुपण किया है उसमें स्थापना सत्य को मान्य रखा है। ठाणांग सूत्र मे लिखा है कि :—

"चउव्विहे सच्चे पण्णते तं जह
णाम सच्चे ठवण सच्चे दव्व सच्चे भाव सच्चे।"

सूत्र में कितनी वात स्पष्ट वताई है उसमे चारो निक्षेपाओं को सत्य माना है। किसी के मन मे शंका हो सकती है कि मोक्ष में तो भगवान का स्वरुप निरंजन निराकार है वहां तो भगवान का स्वरुप अरुपी है तो फिर प्रतिमा मानने से क्या लाभ होगा ?

इस शका के समाधान मे ऐसा समझना कि जैसे मोक्ष मे भगवान का स्वरुप अरूपी है वैसे अनामि है याने जहा रूप नही है वहा नाम भी नही है तब भी भगवान का नाम स्मरण अपन यहा करते है। भगवान निरजन निराकार होने पर भी भगवान का जब नाम ले सकते है तो फिर उनका सवेरे मे उठने ही जिन मदिर मे जाकर मुँह दखने मे क्या हरकत आई ? अपने पिता का नाम लेने वाले को घर मे यदि पिता का फोटू लगाया हुआ है तो फोटू का दर्शन करने में बाधा क्या है ? भगवान निरजन निराकार ज्योति स्वरूप है इसमे किसी का कोई विरोध नहीं है मगर ऐसा होने पर भी किसी समय में भगवान इस पृथ्वीतल पर सदेह अवस्था मे विचरते थे यह बात भी तो माननी पडेगी ? अभी वर्तमान काल मे भरत क्षेत्र मे भगवान नही विचरते है इसलिए भगवान के साक्षात दर्शन का अपने को विरह है। भगवान के विरह काल मे तो प्रतिमा परम आलवन रुप हे ऐसे विषम काल मे प्रतिमा का आलवन छोड देना वह तो परम आधार को छोडकर निराधार बनने बराबर है। इस विषम काल में भवि जीवो के लिये जिनागम और जिनप्रतिमा यह दो ही परमालवन है–इनमे से एक का भी त्याग कर देना वह तो दो आखो मे से किसी एक आख को ग्रस्त करने जैसा खेल है।

परमतारक तीर्थंकर भगवान जब साक्षात् सदेह इस धरातल पर विचरते थे उस काल मे भी जिन प्रतिमा का आलंवन तो था ही तो फिर इस विषम काल की तो वात ही कहां करने की है। महापुरुषो ने तो जिन प्रतिमा को साक्षात् जिनेश्वर के समान कही है क्योकि वह साक्षात् जिनेश्वर की ही प्रतिकृति हैं। साक्षाद् जिनेश्वर के आलंवन से जैसे कई भवि जीव सम्यक्त्व के परिणाम को प्राप्त कर लेते है वैसे ही जिन प्रतिमा के आलवन से भी वहुत से जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेते है।

स्थापना जिन भी महान उपकारी

तीर्थंकर भगवान समवसरण में बैठकर देशना देते है तव उनकी देशना चतुर्मुखी कहलाती है। श्रोतागण किसी भी दिशा में वैठे हो मगर वे भगवान का मुंह देख सकते हैं। उनको ऐसा ही लगता हैं मानो हम भगवान के सन्मुख बैठकर ही देशना सुन रहे है परन्तु इतने से भगवान के चार मुंह नहीं होते है पूर्व दिशा की ओर ही भगवान का मुंह रहता है बाकी रही तीनों दिशाओ मे भगवान की प्रतिमाएं स्थापित की जाती है, वे प्रतिमाएं तीनो दिशा मे देव बैठाते हैं ऐसा विधान समवसरण प्रकरण एवं समवायांग सूत्र की टीका में कीया गया है पूज्य देवचन्द्रजी महाराज ने शातिनाथ भगवान के स्तवन में फरमाया है कि–

"दक्षिण पश्चिम उत्तर दिसि मुख
ठवण जिन उपकारी रे
तसु आलबन लहीय अनेक
तिहा थया समकितधारी रे
भविकजन हरखो रे
निरखी शाति जिणद" ।

पूज्य देवचद्रजी महाराज को हुए ढाई सो तीन सौ वर्ष हुए हैं,उन्होंने इस स्तवन में स्पष्ट शब्दो मे विधान किया है कि समवसरण मे भाव जिनकी माफक स्थापना जिन भी महान उपकारी है क्योकि तीनो दिशा मे प्रतिमा के आलबन से भी कई जीव समकितधारी बनते है ।

जिन प्रतिमा जिन सारिखी यह बात जीव की भव-स्थिति का परिपाक एव कर्मो की लघुता हुए विना दिमाग मे नही बैठने वाली है । कर्म जब पतले पडते है याने जीव पर से कर्मो का भार कुछ कम होता है तब कहीं जाकर यह बात दिमाग मे बैठती है । क्षेत्रपाल, गोत्रदेवता, रामदेपीर, काला गोरा भैरव, शीतला-माताजी चामु डादेवी वगैरह दूसरे देव देवीओ के सामने अपने को जैन कहलाने वाले सिर झुका देहैं और वेही जैन कहलाने वाले जिनेश्वर की मूर्ति की बात आती ह तो बोल देते हं ब्रह तो

पत्थर है ? उससे क्या लाभ होने वाला है ? हम पत्थर पूजा में नहीं मानते है ऐसा बोल देते हैं मगर थोड़ा जीव्हा पर कंट्रोल रखना चाहिये । शास्त्र एवं सिद्धांत मान्य वस्तु के लिए ऐसे वचन निकालने से कभी तीव्रकर्म का बंध हो जाता है ।

मूर्तिपूजा मान्य करे के न करे वह अलग बात है मगर जो चीज को लाखों करोडों मनुष्य मानते है उसके प्रति कम से कम माध्यस्थता तो जरूर रखनी चाहिये ? जडपूजा मे नहीं मानने वाले अन्य देवी देवताओं की मूर्तिओं के सामने क्यों सिर झुकाते है ? ऐसा लगता है वहां कुछ स्वार्थ बुद्धि रहती है तो फिर परमार्थ बुद्धि से जिनेश्वर की प्रतिमा को मानना वह तो अनन्त लाभ का कारण होगा । भगवती सूत्र, ठाणांग सूत्र, ज्ञाता सूत्र, रायप्पसेणी सूत्र, जिवाभिगम वगैरह सूत्रों में प्रतिमा पूजन के स्पष्ठ पाठ होने पर भी उसका उत्थापन करना वह तो अनंत संसार बढ़ाने जैसा ही होगा । सूत्र का एक अक्षर उत्थापे उसको भी अनंत संसारी कहा है तो फिर सूत्रों के पाठों का उत्थापन करे उनके लिये तो कहना ही क्या रहता है ? वह तो आप स्वयं ही अपने बुद्धिबल से सोच सकते हैं ।

सिद्धांत साक्षी से प्रतिमा पूजन की सिद्धि–

भगवती सूत्र के वीस म शतक के नव मे उद्धेमे में जघाचारण एव विद्याचारण मुनिओ ने नदीश्वर द्वीप और रुचक द्वीप मे विद्या के बल मे जाकर्के शाश्वती प्रतिमाओ को वदन करने का स्पष्ट अधिकार है। विद्याचारण मुनि विद्या के वल मे यहा मे एक ही कदम उठाकर मानुषोत्तर पर्वत पर पहुच जाते है और वहा मे दूसरा कदम उठाकर सीधे नदीश्वर द्वीप मे पहुच जाते है। विद्या के बल से वहा जाने वाले विद्याचारण और जघाचारण मुनि वहाके जिन चैत्यो को एव शाश्वत प्रतिमाओ को वदन करते है।

इस विषय मे भगवती सूत्र के वीसवे शतक मे श्री गौतम स्वामी ने महावीर प्रभु को प्रश्न किया है कि भगवान ? विद्याचारण मुनिओ की तिरछी गति का विषय कितना हो सकता है ?

प्रत्युत्तर में भगवान ने फरमाया है कि–

"गोयमा ! सेणं इओ एगेणं उप्पाएणं मानुसुत्तरे पव्वए समोसरणं करेई, करेईत्ता तहिं चेइयाइं वदइ वदइत्ता, बित्तिएणं उप्पाएणं नदीसरवर दीवे समोसरणं करेई करेइत्ता तहिं चेइयाइ वदइ"।

गौतम ! विद्याचारण मुनि यहा मे एक कदम उठा के मानुषोत्तर पर्वत पर पहुचते है और वहा पर्वत पर उतर कर वहा के

चैत्यों को वंदन करते है फिर वहां से दूसरा कदम उठाकर नदीश्वर द्वीप मे उतर कर वहां के जिन चैत्यो को वंदना करते हैं फिर एक कदम उठाकर सीधे यहां चले आते है ? यहां आकर के यहा के चैत्यों को प्रणाम करते हैं। गौतम। विद्याचारण मुनि की तिरछी गति का इतना विषय हो सकता है। भगवती सूत्र मे विद्याचारण एवं जघाचारण मुनिओ की गति के विषय मे और भी वहुत से प्रश्न गौतमस्वामी ने पूछे है और महावीर देव ने उन प्रश्नो का प्रत्युत्तर दे कर उनके मन का पूरा समाधान किया है। अपने को तो इसमें से इतना ही सिद्ध करना है कि भगवती सूत्र में भी जिन प्रतिमा एवं जिन चैत्यो का स्पष्ट उल्लेख है।

आलोचना लेने का हेतू-

नंदीश्वर द्वीप से यहा आने के बाद उन मुनिओ को जो आलोचना लेनी पड़ती है उसका कारण यही है कि गति करने का जो प्रमाद दोष लगता है उसी की आलोचना लेनी पड़ती हैं। जिन चैत्यो को जो वंदना करते है उसका दोष नही मगर अपूर्व लाभ ही माना गया है फिर उसकी आलोचना लेने की बात ही कहां रहती हैं ? जैसे मुनि गोचरी वहेर के आने के बाद आलोचना करते हैं वैसे ही जंघाचारण मुनि गति करने का और लब्धि फोरने का जो प्रमाद हुआ है उसी की आलोचना करते हैं।

चैत्य शब्द का वास्तविक अर्थ–

प्रतिमा पूजन मे श्रद्धा नही रखने वाले "चेइयाइ वदइ" ऐसा जो भगवती सूत्र मे पाठ आया है वहा चैत्य शब्द का अर्थ ज्ञान करते है मगर वह अथ यहा लागु नही हो सकता है क्योकि यहा बहुवचन का प्रयोग हुआ है "चेइयाइ वदइ" यह बहुवचन है। यदि विद्याचरण मुनि ने ज्ञान को वदना की होती तो 'चेइय वदइ' ऐसा शब्द प्रयोग होता क्योकि ज्ञान तो एक है याने आत्मा के अनतगुण है उसमें ज्ञान भी आत्मा का एक प्रधान गुण है जब यहा तो बहुवचन का प्रयोग हुआ है क्योकि नदीश्वर द्वीप मे और अन्य स्थलो में चैत्य तो बहुत अधिक सख्या म है।

व्याकरण को यदि व्याधिकरण मान लिया जाय तो अर्थ का सम्यग् ज्ञान होगा ही कैसे अब व्याकरण सब पटने लगे है व्याकरण पढने वालो को शब्दकोष का भी अभ्यास करना पडता है। कलिकाल सर्वज्ञ हेमचद्राचायजी ने "सिद्धहेम व्याकरण" लिखा है और साथ साथ 'अनेकार्थ सग्रह' कोष भी उन्होने बनाया है उसमें चैत्य शब्द का अर्थ पू हेमचद्राचार्यजी ने फरमाया है कि-

"चैत्य जिनौक स्तद्बिम्बम्" ।

चैत्य याने जिनेश्वर भगवान का मदिर एव जिनेश्वर प्रभु की प्रतिमा। अभिधान चितामणिकोष मे भी पू हेमचद्राचार्यजी

पहले भी कल्याण होवे और पीछे भी कल्याण होवे। याने वर्तमान में भी हितकारक होवे और भविष्य में भी हितकारक होवे ऐसी कौनसी शुभ करणी है ? प्रत्युत्तर में सामानिक देवों ने कहा-

"एवं खलु देवाणुप्पियाणं सुरियाभे विमाणे
सिद्धायतणे अट्ठसय जिण पडिमाणं
जिणुस्सेह पमाणमेताण सन्निक्खित्तं चिट्ठइ
सभाएण सुहम्माणं माणवए चेइयखंभे
वइरामएसु गोलवट्ट समुगाएसु बहुओ
जिणसकहाओ सण्णिक्खित्ताओ चिट्ठंति" ।

"हे देवानुप्रिय अपने सूर्याभ विमान में सिद्धायतन (जिन मंदिर) है उन मंदिर में एक सो आठ जिन प्रतिमाएं है वे जिनराज की अवगाहना प्रमाण उंची है तथा सुधर्मा सभा में माणवक नामक चैत्यस्तंभ है उस स्तंभ में वज्रमय गोल डब्बे हैं उनमें बहुत से जिनेश्वर भगवान की दाढाए एवं अस्थियां रखी हुई है।

"ताओणं देवाणुप्पियाणं अन्नेसि च बहुणं वेमाणीयाण देवाणयं देवीणायं अच्चणिज्जाओ वंदणिज्जाओ, नमंसणिज्जाओ पूयणिज्जाओं सक्कारणिज्जाओ,सम्माणणिज्जाओ जाव पज्जुवासणिज्जाओ"

हे देवाणुप्रिय ये जिनप्रतिमाए और दाढाए आपको और दूसरे भी वैमानिक देव देवीओ को अर्चन योग्य नमन करने योग्य और सन्मान करने योग्य है।

"एयरण देवाणुप्पियाण पुव्वि पच्छावि हियाए सुहाए खमाए णिस्सेसाए आणुगामियताए भविस्सइ" जिन प्रतिमाओ का किया हुआ पूजन अर्चन आपके लिये पहले और पीछे हित के लिए, सुख के लिए, क्षेम के लिए और मोक्ष के लिए होगा। यह सारा विवेचन रायप्पसेणी सूत्र में आया है। यह सूत्र श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सभी फिरके मानते है। सम्यग् द्रष्टि देव जिन प्रतिमाओ का कितना बहुमान करते है ? कितना सन्मान करते है और भीतर के उल्लसित भाव से पूजन अर्चन करते है और पूजन उनके लिये भवोभव में "हियाए सुहाए णिस्सेसाए' 'याने हित के लिए सुख के लिए एव आखिर णिस्सेसाए याने मोक्ष के लिए बनता है। यह सूत्र पाठ पढने पर भी यदि जिन प्रतिमा की श्रद्धा नही हुई नो समझना। अपने कर्म बहुत भारी है और सूत्र की बात भी जितनी अपनी मान्यता के अनुरुप हो उतनी ही लेत है बाकी सब छोड देते है अथवा अर्थ का अनर्थ करते है।

शुभ भाव पर ही सब कुछ आधारित

प्रतिमा भले पत्थर की क्यो न हो मगर मनुष्य का हृदय का उच्च भाव होता है तो वह पत्थर की प्रतिमा मे भी परमात्मा का

दर्शन करता है और उस प्रतिमा के माध्यम से उसको अपूर्व लाभ होता है। आखिर तो मोक्ष मार्ग में हृदय के भाव पर ही सब कुछ आधारित है मगर आलंबन बिना भाव प्रगट नहीं होते है और भाव प्रगट होने मे जीव की योग्यता पर भी बहुत बड़ा आधार रहता है। साक्षात भगवान पृथ्वी तल पर विचरते थे तब भीं भारे कर्मी जीव उनके लाभ से वंचित रहे हैं। सूत्र कृतांग सूत्र में ३६३ पाखंडियों का वर्णन आया है वे भगवान की वाणी का श्रवण करते थे तब भी मगशैल पत्थर की माफक उनका हृदय पल्लवित नहीं होता था। गोशाला पांच छः वर्ष भगवान महावीर के साथ रहा था तब भी उसको कुछ लाभ नहीं हुआ अन्त में मृत्यु के समय जरुर पश्चाताप हुआ और समकित प्राप्त हुआ मगर भगवान के साथ जब विचरता था तब तो वैसा का वैसा कोरा कागज के समान रह गया था। यह बात लिखने का हेतू इतना ही है कि भारे कर्मी जीव साक्षात भगवान जब विद्यमान थे तब भी लाभ से वंचित रहे और हलुकर्मी जीव भगवान के आलंबन से तीर गये है वैसे ही प्रतिमा के आलंबन से भी भवसागर पार हो जाते है। जीव को किस निमित्त से कब लाभ हो जाता है उस पर निश्चयात्मक कुछ भी नही कहा जा सकता बड़े बड़े वैद्यों की दवाई से रोग नही मिटता है और एक सामान्य वैद्य की दवाई से रोग मिट जाता है इसलिए जब तक अपनी साधक दशा है तब तक श्रेष्ठ आलंबनों को कभी भी छोड़ना नहीं उसको तो बराबर पकड़कर रखना है।

समकिति देवो की नित्य शुभकरणी

रायप्पसेणी सूत्र मे पूर्व और पच्छा शब्द से प्रतिमापूजन समकिती देवो की नित्य शुभकरणी कही है तब भी विपरित प्ररुपण करना कि "देवो का जिन प्रतिमाओ के साथ जित आचार पूरता ही सम्बन्ध है वे उसको धर्म का कारण ही नही मानते है" यह कितनी विपरीत प्ररुपणा है। सूत्र मे तो "हियाए सुहाए" ऐसे स्पष्ट शब्द लिखे हे। जो चीज देवो के लिए हितकारक है उसके साथ का सम्बन्ध कितना घनिष्ट हो सकता है और उस चीज के प्रति देवो के हृदय में कितना बहुमान, सन्मान और पूज्य भाव शास्त्र मे लिखा है।

पृथ्वीतल पर जब तीर्थ करो का निर्वाण होता है तब अ तिम भस्कार विधि के समय समकिति देव देवेन्द्र तीर्थ करो के मु ह मेसे उनकी दाढाए निकाल लेते है और दाढाओ को सुधर्मसभा मे मे चैत्य स्तभ होता हे उस स्तभ म वज्रमय गोल डब्बे मे रखते है। जिन प्रतिमाओं की माफक उन दाढाओ की भी समकिति देव पूजा करते है। कितना समकिति देवो का भगवान के प्रति बहुमान होता है ? वह दाढाए देवाधिदव तीर्थ करो की होने से कही आशातना का दोप न लग जाय इसलिए उस सुधम सभा मे इन्द्रादिक देव किसी प्रकार की काम क्रीडा नही करते है। ऐसा विधान भगवती सूत्र में है।

भगवान की मूर्ति से लाभ नही मानने वाले आजक देखो वहां अपने फोटू खीचवाते है। उनके भक्तजनों के दूकानो में स्थान स्थान पर फोटू देखने में आते है। वाणी और वर्तन का वि संवाद नही तो और क्या है ? रहना कि प्रतिमा जड़ है उससे क्या लाभ है तो फिर घर फोटू लगवाये जाते है उससे भी क्या लाभ होने वाला है, व तो जड़ का ही आलंबन है। पुस्तकों में भी उनके फोटू छपने है येन-केन प्रकारेण आलंबन तो लेना ही पड़ता है तो फिर प्रतिमा का आलंबन स्वीकार करने में संकोच क्यों होता हैं।

वंश परम्परा को तारने वाला महान आलंबन

शास्त्रों में जिन प्रतिमा का स्पष्ट उल्लेख होने पर भी वह से मनुष्य अपने पूर्व ग्रह के कारण प्रतिमा को मान्य नहीं रखते है सत्य वस्तु को अंगीकार करने मे संप्रदायवाद भी सामने आ जाता है। जैन श्वेताम्बर परम्परा को मान्य वहुत से सूत्रों में जिन प्रतिमा के स्पष्ट उल्लेख मिलते है तो फिर सत्य वस्तु को मानने में हिचकिचाहट विलकुल नहीं रखना चाहिये शायद उनको संदेह रहता हो कि सत्य का स्वीकार करने से अपने संप्रदाय को धक्का पहुचेगा मगर सत्य वस्तु को स्वीकार करने से धक्का तो किसी प्रकार का नहीं पहुचेगा परन्तु संप्रदाय का उद्धार जरुर हों जायेगा। जीवन मे सत्य का प्रकाश मिल जाय वही तो मनुष्य जीवन का सार है।

असत्य नहीं ठहराया जा सकता। शत्रुंजय महात्म्य पूवनेश्वर-सूरीजी ने करीवन् १८०० वर्ष पहले लिखा है और त्रिषष्टिश्लाका पुरुष चरित्र कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्राचार्यजी ने साढ़े आठ सो वर्ष पहले लिखा है। वे महापुरुष आगम शास्त्रो के पूरे ज्ञाता थे। उनके वचनों को प्रमाण भूत मानने में किसी प्रकार की शंका कुशंका रखने की जरुरत नहीं है।

श्री ज्ञातासूत्र अंतगढ़ सूत्र आदि सूत्रों में भी श्री शत्रुंजय तीर्थ का अधिकार दीया हुआ है पांडवतो शत्रुंजय तीर्थ पर से मोक्ष में गये हुए है, राम भरत भी शत्रुंजय पर मोक्ष में गये है अकेले नही परन्तु करोड़ों मुनियों के साथ मोक्ष मे गये है। थावच्चा अणगार शुक्परिव्राजक, शैलकजी, देवकीजी के षट्‌नंदन आदि सभी शत्रुंजयपर अनशन व्रत लेकर मोक्ष में गये हैं। भगवान आदिनाथजी के गणधर पुंडरिक स्वामी पांच करोड़ मुनिओं के साथ शत्रुंजय पर से ही मोक्ष में गये हैं। "कांकरे कांकरे अनंता सिद्धया" यह बात शत्रुंजय तीर्थ के लिए जो कही जाती है वह बिलकुल यथातथ्य है। जहां से एक मुनि का भी मोक्ष होता है उस स्थान को भी पवित्र समझ कर तीर्थ कहा जाता है तो गिरिराज शत्रुंजय पर से तो अनंत जीव सिद्धिगति को प्राप्त हुए है तो उस स्थान के लिए तो कहना ही क्या है? उसको तो तीर्थ ही नहीं

तीर्थाधिराज कहना चाहिये। यो तो ढाई द्वीप मे सभी जगह से सिद्ध हुए है मगर शत्रुजय पर से तो तीर्थ के आलबन से सिद्ध हुए हैं इसलिए उस स्थान का महत्व बढ जाता है। एक महात्मा ने ठीक ही कहा है कि मनुष्य जन्म पाकर जिसने गिरिराज शत्रुजय की स्पर्शना नही की है वह जीव समझ लेना अभी तक गर्भावास में ही पड़ा है। भले उसका जन्म हुआ है मगर ऐसे महान तीर्थ की स्पर्शना किये विना वह जन्म कोई काम का नही है। तीर्थ के परमाणु अत्यत पवित्र होते है वहा की स्पर्शना करने से अपने मन परिणाम भी अत्यन्त पवित्र हो जाते है पवित्र परमाणुओ का प्रभाव मन परिणाम पर अवश्य पडता ही है।

आबू, राणकपुर तारगा हील पर के मदिर भी विश्व विख्यात हैं। हजारो वर्ष पहले हुए विमलशा मत्री राजा कुमारपाल, वस्तुपाल, तेजपाल धरणाशा सेठ आदि महा-भाग्यवान पुरुषो ने भव्यातिभव्य कलात्मक मदिर निर्माण किये है। जिन मदिरो की शिल्पकला तथा बाधणी आज सारे विश्व मे सुप्रसिद्ध है। यूरोपियन भी आबू देलवाडा की शिल्पकला देखकर नतमस्तक बन जाते है। अरिहत परमात्मा के शासन एव जिन प्रतिमा के प्रति उन महान पुरुषो के हृदय मे कितना उत्कृष्ट भक्तियोग होगा ? अब आप इतना तो सोचो कि हजारो लाखो वर्ष पहले

जो मंदिर और तीर्थ निर्माण किये गये है उनके दर्शन, वंदन एवं भक्तिभाव से कितने जीवो का उद्धार हुआ होगा ? कहना ही पड़ेगा कि हजारो लाखो नहीं परन्तु करोड़ों जीवों का उद्धार हो चुका है। चालू वर्तमान मे भी कई जीवों का उद्धार हो रहा है और भविष्य में भी होता रहेगा। इसलिए पूज्य हरिभद्रसूरीजी ने पोड़षक शास्त्र मे लिखा है कि जिन मंदिर का आलंबन वंश परम्परा को तारने वाला है यह बिलकुल यथातथ्य है। अनंतानंत जीव जिन मंदिर के आलंबन से तीर गये हैं।

जिन मंदिर नहिं जाना ही प्रायश्चित का विषय

इतने महान उत्कृष्ट आलंबन के लिए बोलना कि मंदिर में जाना बड़ा दोष का कारण है। उस दोष का तो प्रायश्चित होना कठिन है। जैन सूत्र सिद्धांत को जानने वाले ऐसा विचार शून्य प्रलाप कभी नहीं करेंगे क्योंकि सूत्र में तो स्पष्ट शब्दों में प्रतिमा एवं जिन मदिरों का विधान किया हुआ है। आजकल ऐसा युग आया है कि स्वयं मार्ग भूले हुए है, वह नहीं देखते हैं और दूसरों की आलोचना करते रहते हैं। उनको यह बात जरुर ख्याल मे रखने की है कि पाप के बहुत से प्रकार है मगर सूत्र विरुद्ध प्ररुपणा करने जैसा कोई पाप नहीं है।

भावना भावना मे महान अन्तर

प्रतिदिन परमात्मा के दर्शन से मनुष्य की धर्म भावना में अभिवृद्धि होती रहती है। सुवह के समय मे कोई एक मनुष्य हाथ में थैली लेकर सब्जी बाजार तरफ जा रहा है और दूसरा मनुष्य हाथ मे चावल की डिब्बी लेकर जिन मंदिर तरफ दर्शनार्थ जाने को निकला है। अब सोचने की बात यह है कि दोनो की भावना में कितना अन्तर रहेगा ? एक के भाव अत्यन्त विशुद्ध रहेगें और दूसरे को ऐसे शुभ भाव आने का स्कोप ही नही है ? वह तो सोचेगा कल भिंडी लाया था आज तरोई खरीदना हैं खटाई के लिए दो चार नीबू भी खरीदने है, सब्जी बेंचने वाला अपना पुराना दोस्त है नीबू तो शायद मुफत मेही मिल जायेगें। जबकि जिन मदिर जाने को निकला है उसको अच्छे विचार आयेगें वह सोचेगा प्रभु दर्शन से मेरा जन्म कृतार्थ और दिन सफल बन जायेगा।

एकेन्द्रियादि कई योनियो में भटकता आया हू, जिन दर्शन का मुझे कही अपूर्व लाभ नही मिला है। मनुष्य भव में भी कई अनार्य देश मे जन्म लेते हे उन्हे मनुष्य भव मिलने पर भी जिन दर्शन दुर्लभ है। मुझे आर्य देश मे, उत्तम कुल में और उत्तम जाति म मनुष्य जन्म मिला है तो जिन दर्शन का लाभ मुझे मिल रहा है अहा ! क्या मेरा अहो भाग्य है ? कि मुझे मनुष्य भव मे

यह अपूर्व लाभ मिल रहा है। भगवान महावीर परमात्मा के दर्शन के लिए मैं जा रहा हूं। भगवान महावीर देव ने जीवन में कितना दूष्कर तप किया था? तप के साथ भगवान में क्षमा गुण भी कितना अपूर्व था? छः महिने तक भगवान ने चोविहार उपवास किये थे। साढ़े बारह वर्ष के छद्मस्त काल में भगवान ने सिर्फ ३४६ पारणे किये थे शेष सब चोविहार उपवास किये थे। अहा! क्या भगवान का वेजोड़ तप था? अन्त में घाती कर्मों के बंधन को तोड़कर भगवान ने अनंत ज्ञान और अनंत दर्शन प्राप्त किया था। जिनमें ऐसे ऐसे महान लोकोत्तर गुण है उन परमात्मा के दर्शन करने के लिए मै जा रहा हूं सचमुच मेरा जन्म सफल बन जायगा। ऐसी शुद्ध विचारधारा जो जिन दर्शन के लिए घर से निकला है उसके हृदय में उत्पन्न होने का वहुत कुछ अवकाश है क्योंकि निमित्तवासी आत्मा है। जैसे निमित्त सामने आते है वैसे ही भाव जीव में प्रगट होते है।

अशुभालंबन से भाव में अशुद्धता तो शुभालंबन से शुद्धता—

दशवैकालिक सूत्र में वसती स्थान मे साधु जहां ठहरते हैं वहां यदि काम वासना उत्तेजक कोई चित्र हो तो ठहरने मे बड़ा दूपण बताया है। दशवैकालिक सूत्र में फरमाया है :—

"चित्त भित्ति न णिज्जाए नारिवा सुग्रलकिग्र ।
भक्खर मिव दट्ठूण दिट्ठि पडिममाहरे"

पू उपाध्याय यशोविजयजी महाराज ने इसी गाथा का लोक भाषा मे अनुवाद किया है कि —

"दशवैकालिक दूषण दाख्यु, नारीचित्र ने ठामे,
तो किम जिन प्रतिमा देखीने गुणनवी होयपरिणामे" ।

यह गाथा करीबन तीन सौ वर्ष पहले पू उपाध्यायजी ने साढे तीन सौ गाथा के स्तवन मे लिखि है। दिवाल पर चित्रित अलकारादि से विभूषित नारी को साधु पुरुष अपनी दृष्टि मे देखे नही, स्त्री का चित्र हो अथवा साक्षात स्त्री का स्वरुप हो उस पर साधु पुरुष अपनी दृष्टि को स्थिर करे नही। प्रमाद के कारण दृष्टि पड भी जाय तो जैसे मध्यान्ह काल के समय सूर्य मडल पर दृष्टि पडते ही तुरन्त पुन खीच ली जाती है वैसे ही कोई पर-स्त्री पर नजर पड भी जाय तो साधु पुरुष तुरन्त नजर को अपनी ओर खीच लेते है और अपनी दृष्टि को अन्तर्मुख कर लेते है।

"चित्त भित्ति न णिज्जाए" दशवैकालिक सूत्र की इस गाथा मुजब जिस वसति स्थान म दिवाल पर नारी का चित्र लगाया हो उस वसति स्थान मे साधु ठहरे नही क्योकि उस निमित्त से भी साधु के मन मे अशुद्ध भाव उत्पन्न हो सकते है

इसलिए साधु ऐसे स्थान में रात्रि निवास न करे। निमित्तवश मन परिणाम चंचल होने में देरी नहीं लगती है। अब यहां सोचने का इतना ही है कि खराब चित्र से मन परिणाम अशुभ हो सकते हैं? तो क्या वीतराग परमात्मा के दर्शन वंदन से शुभ भाव उत्पन्न नहीं हो सकते हैं? कहना ही पड़ेगा जरुर शुभ भाव प्रगट हो सकते है। अशुभ निमित्त से अशुभ भाव उत्पन्न होते है तो शुभ निमित्त से जरुर शुद्ध भाव प्रगट हो सकते है। इस बात में लव लेश भी सदेह रखने की गुंजाइश नहीं है। अपन पहले ही कह चुके है कि आखिर तो निमित्तवासी आत्मा है तो फिर प्रतिमा जैसे महान आलंबन का लोप करना वह तो एक अपूर्व भाव विशुद्धि के आलंबन से स्वपर को वंचित रखने जैसा है।

सगुण से निर्गुण एवं साकार से ही निराकार

जिन प्रतिमा के दर्शन से दर्शन विशुद्धि होती ही है मगर साथ-२ देवाधिदेव के गुणों का भी बड़ी आसानी से चितन हो सकता है। इन्सान साकार उपासना के माध्यम से ही निराकार उपासना का अधिकारी बन सकता हैं। उच्च लक्ष रखे बिना कभी भी लक्षांक सिद्ध नहीं हो सकता। जहाज चलाने वालेका

लक्ष ध्रुव काटे पर लगा रहता है तो जहाज किनारे पहुच जाता है वैसे ही वीतरागी प्रतिमा के आलंबन से इन्सान का लक्ष अपनी आत्मा के वीतरागी स्वरुप पर लगा रहता है तो वह आत्मा आखिर वीतरागी बनता है। कहा पहुचना है उसका जिसने लक्ष नही रखा है वह तो भटकता रहेगा कभी भी इष्ट स्थान पर नही पहुचेगा।

वेदात दर्शन की भाषा में कहना हो तो कह सकते है कि सगुण उपासना के आलंबन से ही निर्गुण उपासना की भूमिका तक पहुचा जा सकता है। अपर ब्रह्म का आलंबन लिए बिना पर ब्रह्म की प्राप्ति हो ही नही सकती। शरीर से भिन्न आत्म स्वरुप की विचारणा करना मैं कौन हू ? कहा से आया हू ? यहा से मृत्यु पा कर कहा उत्पन्न होऊगा ? सद्चिद आनन्द ही मेरा स्वरुप है। इस तरह मे आत्म स्वरुप की विचारणा करना यह हुआ अपर ब्रह्म और ब्रह्म स्वरुप मे लीन हो जाना निर्विकल्प स्थिति को प्राप्त कर लेना उसको ही कहा जाता है परब्रह्म वैसे ही बिलकुल निर्विकल्प स्थिति को प्राप्त कर लेना जिसमे शुभ सकल्प विकल्पो का भी सन्यास कर लिया जाय वही निर्गुण दशा है मगर वह स्थिति पर्यन्त सगुण उपासना के माध्यम से ही पहुचा जाता है। एक दम छलाग लगाकर कोई ऊपर पहुच ही नही सकता है अपने इष्ट परमात्मा की प्रतिमा का दर्शन, वदन, पूजन

करना ही सगुण उपासना है। यों करते करते अपने स्वरुप और अपने ज्ञान दर्शनादि गुणों का अपने को भान होता है और अन्त मे आत्मा अपने स्वरुप मे एकतान बनता जाता है। आखिर ऐसा भी वक्त आ जाता है कि जिस समय ध्याता ध्येय और ध्यान ये तीनों तद्‌रुप हो जाते है याने तीनों की एकता हो जाती है फिर तो शुद्ध निरंजन स्वरुप की प्राप्ति होने मे देरी ही क्या लगने वाली है ? ध्याता अपना आत्मा है, ध्यान परमात्मा का स्वरुप है और ध्येय परमात्म पद प्राप्त करने का है। इन तीनों की एकाकारता ही मोक्ष पद की प्राप्ति है। घी, गेहूं और गुड ये तीनों एक हुए नहीं कि मोदक बने नहीं वैसे ही ध्याता, ध्येय और ध्यान ये तीनों ही एक हुए नहीं के जीव का मोक्ष हुआ नही।

पत्थर की गाय दूध नही देती मगर अपने स्वरुप का परिचय तो अवश्य देगी।

प्रतिमा का आलंबन जिनको मान्य नही वे ऐसा भी कह देते है कि पत्थर की गाय जैसे दूध नहीं देती है वैसे प्रतिमा भी जड़ है उससे क्या लाभ होने वाला है ? ऐसा प्रलाप करने वाले जीवों पर करुणा बुद्धि रखकर ज्ञानी फरमाते है कि अरे भाई ? पत्थर की गाय दूध नही देती मगर पत्थर की गाय देखने से गाय ऐसी होती है इतना ज्ञान तो अपने को जरुर होता है वैसे ही जिन

प्रतिमा के दर्शन से अपने को अपने शुद्ध स्वरूप का भान जरूर होता है वह भी तो अपूर्व लाभ है ? इससे हम ज्यादा क्या कहें ? आखिर तो जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि है। जीव प्रमाद में ही पड़ा रहे तो ओघा, मुहपत्ति, माला आदि भी तारने वाला नहीं है। जीव का मोक्ष तो आखिर अपने पुरुषार्थ से ही होने वाला है तब भी ओघा, मुहपत्ति, माला आदि जैसे सवर निर्जरा के साधन कहे जाते हैं वैसे ही जिन प्रतिमा को सम्यक्त्व प्राप्ति का साधन कहने मे कोई हरकत नही है।

जिन जीवो मे किसी प्रकार की पात्रता ही नही है उन जीवो को जिन प्रतिमा क्या ? जिनागम क्या ? किसी से क्या लाभ होने वाला है ? उनके लिए तो शास्त्र भी शस्त्ररूप बनते हैं। जिस द्वादशागी के आलवन से अनतानत जीव तीर गये है उसी के आलबन से बहुत से हलभागी जीव डूब भी गये है वैसे ही जिन प्रतिमा के आलबन से मनक पिता शय्यभव स्वामी, आर्द्र-कुमार जैसे कितने ही हलुकर्मी जीव तीर गये है उसी चीज की विराधना करके कितने ही जीव डूब गये है। दृष्टि जब तक विपरीत है तब तक वस्तु वस्तु के स्वरूप मे समझ मे आवगी कैसे ?

साधन जरूर करे मगर साध्य का भी लक्ष रखे

मेरे ससारिक कुटुम्बी माता-पिता जैन स्थानक वासी सप्रदाय मे थे मेरे भुआजी स्थानक वासी सप्रदाय मे दीक्षित बने हुए थे। मै दीक्षा लेने के पहले उनके दर्शन करने

को गया था। मैंने दीक्षा अंगीकार करने की भावना उनके समक्ष जाहिर की आनंद व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा तू दीक्षा भले ही ले मगर अपने बावीश संप्रदाय मे ले। मेरी उम्र उस समय में सत्रह साल की थी इतनी कोई गम्भीर विचारणा मेरे मे नहीं थी तब भी मैंने गुरुजी के साथ छः सात महिना रहकर जीव विचार नव तत्व का अभ्यास कर लिया था। ओसियां गुरुकुल में साढ़े तीन वर्ष रहकर पंच प्रतिक्रमण का भी अभ्यास मेरा हो गया था थोड़ा बहुत अभ्यास होने से सामान्य समझ मेरे मे जरुर थी।

साध्वीजी महाराज से मैंने कहा कि मे दीक्षा तो मंदिरमार्गी संप्रदाय में ही लूंगा क्योंकि जिन प्रतिमा में मुझे संपूर्ण श्रद्धा है इसलिए दीक्षा तो मैंने जहां नक्की की है वही लेऊंगा सिर्फ आपका आशीर्वाद लेने आया हूं इतने में उन्होंने मुझे सुनाया कि "पत्थर पूजे हरो मिले तो मैं पूजु गिरिराय" याने तू मूर्ति में श्रद्धा रखता है मगर मूर्ति तो आखिर पत्थर की बनती है पत्थर पूजने से यदि मोक्ष मिलता हो तो कई पहाड़ पूजने को तैयार हैं। मैंने कहा महासतीजी यदि यह छोटी सी मुहपत्ति बांधने से मोक्ष मिलता हो तो मैं रजाई बांधने को तैयार हूं। अरे! तू क्या बोल रहा

है ? मैंने कहा पहले यह सोचो कि आप क्या बोल रही हो ? आपने पहाड पूजने की तैयारी बताई तो मैंने रजाई बाघने की तैयारी बताई । जैसा आपने सवाल उठाया वैसा मैंने प्रत्युत्तर दिया है । सवाल पहले आप ही ने उठाया है मैंने तो अपनी भावना आपके समक्ष प्रगट की थी । फिर तो वे तुरन्त बोले जहा तेरी इच्छा हो वहा दीक्षा ले । मैंने कहा पहले से आपने इतना कह दिया होता तो यह चर्चा आगे बढ़नी ही नहीं ?

साध्य की सिद्धि के लिए साधन अत्यन्त जरुरी है मगर यदि साधन को ही साध्य मान लिया जाता है तो जीव वही रुक जाता है और उसकी स्थिति कोल्हू के बैल जैसी होती है। जीव का मोक्ष तो राग द्वेष के त्याग से ही होने वाला है। मुहपत्ति,ओघा, माला, जिन प्रतिमा आदि सब आलवन है तथा इसके सहारे जीव का विकास जरुर होता ही रहता है परन्तु इतने मात्र से साधन को साध्य ही मान लेना वैसी कोई बात नहीं है। हा ! साध्य का लक्ष सामने रखकर साधन जरुर करने का है।

प्रतिमा शाश्वती हो अथवा अशाश्वती हो दोनो पूजनीय–

प्रतिमा पूजा में श्रद्धा नही रखने वाले भी देवलोक मे शाश्वती प्रतिमाए जरुर मानते है मगर प्रतिमा पूजन मे श्रद्धा

रखने वाले सम्यग् द्रष्टि जीव शाश्वत के अशाश्वत का भेद मन में नहीं रखते है। देवलोक के देव शाश्वत विमानों में रहते है तो मनुष्य शाश्वत मकान कहां लेने को जायगे उनको तो अशाश्वत मकानों मे ही रहना भाग है। नंदीश्वर द्वीप मे, रुचक द्वीप मे देव विमानों में शाश्वती प्रतिमाएं होती है मगर शाश्वती प्रतिमाए वंदनीह पूजनीय है वैसे ही अशाश्वती प्रतिमाए भी वंदनीय एवं पूजनीय मानने मे कोईशास्त्रीय विरोध नही है इसलिए शाश्वती के अशाश्वती प्रतिमाओ के बीच भेद रखने का कोई कारण नहीं है।

आनन्द श्रावक एवं अंबड़ परिव्राजक की जिन प्रतिमा में अटूट श्रद्धा–

तत्व द्रष्टि मे किसी भी धर्म क्रिया अथवा अनुष्ठानादि मे जीव का जो निजि शुभ भाव है वही फल प्राप्ति में मुख्य कारण भूत है। भाव बिना की क्रिया फलवती नही बनती है। जिन प्रतिमा के आलंबन से जीव मे जो शुभ भाव प्रगट होते है वे शुभ भाव ही जीव के लिए महान फलदायक है इसलिए पूर्वकाल मे आनंद कामदेव जैसे महावीर परमात्मा के महान श्रावको ने भी जिन प्रतिमा का आलंबन लिया था। अपने सम्यक्त्व को किसी प्रकार की बाधा न पहुचे और उसमे दूषण न आवे इसलिए आनंद श्रावक ने भगवान महावीर स्वामी के पास ऐसा नियम लिया था—

"नो खलु मे भते कप्पइ अन्नउत्थिय परिगाहियाइ अरिहत चेइयाइ वा वदित्तएवा नमंसित्तएवा"।

हे भगवन ! मुझको आजसे लेके अन्य तिथिक बौद्धचरकादि एव हरिहरादिक अन्यतीर्थिक देव, और अन्यतीर्थि ने ग्रहण किये अरिहत के चैत्य जिन प्रतिमा इनको वदना करना नमन करना वह कल्पे नही"। याने अन्यमति किसी सजोग वशात् जिन चैत्यो पर अपना कब्जा करके जैन विधि के अलावा यदि अपनी परम्परा अनुसार पूजा उपासना करते है तो वह जिन प्रतिमा होने पर भी उसको नमस्कारादि सम्यग् दृष्टि श्रावक नही कर सकता हे यदि करता है तो उसके सम्यक्त्व को दोष आता है इसलिए आनद श्रावक ने सम्यक्त्व उच्चरने के समय यह नियम किया है कि अन्य तीर्थि के द्वारा ग्रहण किये गये जिन चत्यो को भी मैं वदना नमस्कार नही करु गा। इस कथन से इस बात की अपने आप पुष्टि हो जाती है कि जैन धर्म की मान्यता अनुसार जिन जिन चैत्यो मे पूजा उपासना होती थी उन उन चैत्य और जिन प्रतिमाओ को आनद श्रावक जरुर वदना नमस्कार करते थे।

ऐसा ही पाठ उववाई सूत्र मे अ वड परिव्राजक के अधिकार मे दिया गया है उसमे लिखा है कि —

"अवडस्सरा परिवायगस्स नो कप्पइ अण्ण उत्थिएवा

अण्णउत्थिय देवयाणी वा अण्ण उत्थिय परिगाहियाइ अरिहंत चेइयाइं वा वंदित्ताएवा नमंसित्ताएवा णण्णत्थ अरिहंते वा अरिहंत चेइआणिवा" ।।

अंबड श्रावक परिव्राजक होने पर भी महान सम्यग् दृष्टि थे। देवगुरु और जैन धर्म के प्रति पूर्ण श्रद्धावान थे। अपने सम्यक्त्व को दोष न लग जाय इसी कारण अंबड़ परिव्राजक ने यह नियम लिया था कि अन्यतीर्थि के देव और अन्य तिर्थियों द्वारा ग्रहण किये अरिहंत चेत्य एवं जिनप्रतिमा को मैं वंदन नमन नहीं करुंगा क्योंकि वे अन्यतीर्थि सम्यग् विधि अनुसार जिन प्रतिमा की पूजा उपासना नहीं करते थे इसी कारण जिन प्रतिमा होने पर भी उसकी पूजा उपासना ढंग से नहीं होने से अंबड़ परिव्राजक एवं आनंद श्रावक ने उपरोक्त नियम ग्रहण किये थे।

जैसे नागेश्वर तीर्थ बहुत प्रख्यात है वहां चौदह फुट की पार्श्वनाथ भगवान की हरे वर्ण की भव्य प्रतिमा कार्योत्सर्ग ध्यान मे स्थित है। उस प्रतिमा पर कई वर्षों पर्यन्त एक बावाजी ने कब्जा कर रखा था। वे बावाजी शंकर भगवान समझ कर पूजा करते थे आखिर जैन संघ के पुन्योदय से प्रतिमाजी पर अपना कब्जा हुआ फिर उस प्रतिमाजी पर अपनी जैन विधि अनुसार पुनः संस्कार किया गया, आज तो वहां हजारों लाखों यात्री यात्रा करने जाते है। वहां भव्य मंदिर भी निर्माण हो रहा है। तीर्थ

की महिमा दिन प्रतिदिन वटती ही जा रही है। केशरीयाजी तीर्थ की हालत भी आजकल वैसी ही होती जा रही है। तीर्थ में जाते हैं तो वडा दुःख होता है और आशातना भी बहुत होती है मगर श्वेताम्बर दिगम्बर दोनो सम्प्रदायो का विवाद होने से अपना कुछ भी चलता नही हैं।

आनद श्रावक और अंबड परिव्राजक ने जो अन्यतिर्थिकों द्वारा ग्रहण किये जिन चैत्य और जिन प्रतिमा को वोसराया है वहा कीतनेक चैत्य शब्द का अर्थ साधु करते है ऐसा अर्थ करना वह अर्थ बराबर नही है क्योकि भगवतीसूत्र में ऐसा अधिकार आया है कि नये उत्पन्न हुए असुरराज चमरेन्द्र को सोधर्म देवलोक के इन्द्र का वैभव देखकर मन में ईर्ष्या उत्पन्न हो गई तथा उसके मन मे ऐसा विकल्प आया कि यह मेरा ऊपरी कौन है? क्या यह मेरे से अधिक पुण्य प्रभाव वाला है? मैं सौधर्मेन्द्र को उसकी शोभा से भ्रष्ट करके रहूंगा। ऐसा सोचकर वह अपनी राजधानी चमर चचा मे सौधर्म देवलोक तक पहुचने का द्रढ निश्चय कर लेता है। मगर उसके मन मे संदेह जरूर रहता है कि सौधर्मेन्द्र कहीं मेरा पराभव कर देगा तो उस वक्त वहा मेरी रक्षा कौन करेगा? इसलिए चमरेन्द्र जब सौधर्म देवलोक में जाते है तब पहिला अरिहत का दूसरा अरिहत चैत्य का तथा तीसरा अणगार अर्थात साधु का शरण अंगीकार करके फिर यहा से उर्ध्वगमन करते है जैसे चमर का उत्पति अपने मे प्रख्यात है जो अच्छेरा रूप माना गया

है। वहुत लम्बे काल के बाद ऐसी घटना होती है मगर तीन में मे किसी एक का भी शरण अंगीकार किये विना चमरेन्द्र सौधर्म देवलोक तक जाने के लिए ऊर्ध्वगमन नही कर सकते है इन तीनों मे से किसी एक का आश्रय करके ही चमरेन्द्र ऊपर जाने की हीम्मत कर सकते है।

भगवती सूत्र के तीसरे शतक में फरमाया है कि—

'णण्णत्थ अरिहंतेवा' अरिहंत चेइयाणिवा अणगारेवा भाविअप्पणोणीस्साए उड्ढं उप्पयंति जाव सोहम्मोकप्पो'।

साक्षात अरिहंत परमात्मा अथवा अरिहंत चैत्य याने अरिहंत की प्रतिमा और भावितात्मा अणगार याने साधु इन तीनों में से किसी एक की शरण अंगीकार करके ही चमरेन्द्र ऊपर जाने का साहस कर सकते हैं। इतनी स्पष्ट बात होने पर भी चैत्य शब्द का अर्थ साधु कैसे हो सकता है? इस विधान में तो साधु के लिए अणगार शब्द का प्रयोग हुआ है और अरिहंत की प्रतिमा के लिए "अरिहंत चेइयाणीवा" इस शब्द का प्रयोग हुआ हुआ है इसलिए इस भगवती सूत्र के पाठ पर से इतना स्पष्ट हो जाता है कि चैत्य शब्द का अर्थ जिन प्रतिमा के अलावा न तो ज्ञान है और न साधु है।

एक हजार वर्ष पहले हुए नवागी टीकाकार पू. अभयदेव सूरीश्वरजी ने भी आगमो में जहा जहा चैत्य शब्द आया है वहा वहा उसका अर्थ जिन प्रतिमाजी किया है। ऐसे महान धुरधर पूर्वाचार्यों को छोडकर क्या आजकल के विद्वानो के वचन पर विश्वास रखेगे ? जिन को पूर्वाचार्यों के मुकाबले आगमो का कुछ भी अनुभव नहीं है।

श्रेणीक राजा एव संप्रतिराजा की अपूर्व श्रद्धा भक्ति

उपरोक्त विवेचन से इस बात की पुष्टि हो गई कि पूर्व काल में आनद कामदेव वगैरह भगवान महावीर के सभी महान श्रावको ने जिन प्रतिमा का एव जिन चैत्य का आलबन मान्य रखा था। स्वय श्रेणिक राजा भी जिन मदिरो मे त्रिकाल उपासना करते थे इतना ही नहीं चैत्यवदन के समय भगवान के समक्ष सोने के चावल जैसे बनाये गये जवलो का स्वस्तिक करते थे। अरिहतपद की आराधना के प्रभाव से ही श्रेणीक महाराजा ने स्वय अविरतिधर होने पर भी तीर्थ कर गोत्र बाधा है।

करीबन साढे बाईस सो वर्ष पहले राजा सप्रति ने भी जिन मदिर एव जिन प्रतिमाओ की अपूर्व भक्ति भाव से उपासना की थी। पू स्थूलभद्र स्वामी के शिष्य दश पूर्वधर आर्यसुहस्ति से

संप्रतिराजा को प्रतिबोध हुआ था। प्रतिबोध तो ऐसा हुआ कि राजा संप्रति ने कई अनार्य देशों में भी जैन धर्म का अपूर्व प्रचार करवाया था और बहुत से अनार्य भी अहिंसा धर्म की ओर आकर्षित बन गये थे।

संप्रतिराजा ने अपने जीवन में सवा लक्ष नये जिन मंदिर निर्माण करवाये थे और सवा कोटी जिन-प्रतिमाएं उन्होंने भराई थी। जिन मंदिर के खनन विधि का समाचार मिलने के बाद ही वे पानी मुंह में लेते थे। राजा संप्रति ने सारी पृथ्वी को मानो जिन मंदिरों से सुशोभित की थी। आज भी जहां कहीं भी खुदाई होती है वहां पृथ्वी में से राजा संप्रति के समय के प्रतिमाजी निकल आते है इतना ही नही बहुत से मंदिरों में संप्रति राजा के समय के प्रतिमाजी विराजमान है। वे प्रतिमाजी इतने भव्य एवं आह्लादवर्धक होते है कि दर्शन करने के समय वहां से हटने की इच्छा ही नहीं होती है।

दर्शन के प्रभाव से गुणों का स्मरण एवं संसार का विस्मरण

जिन प्रतिमा का दर्शन पूजन करने के समय मन भीतर मे आनन्दविभोर होता है। दर्शन वंदन के समय परमात्मा के गुणो का हृदय में स्मरण होता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, क्षमा, नम्रता, सरलता और निर्लोभता, तप संयमादि परमात्मा के गुणों का हृदय

मे स्मरण होने से सारे ससार का विस्मरण हो जाता है। परमात्मा के गुणो का स्मरण होने से आत्मा कभी कभी उसमें इतना तल्लीन बनना है कि उस वक्त आत्मा और परमात्मा के बीच का कोई अन्तर नही रहता है। अपनी आत्मा को परमात्मा के स्वरूप का स्वानुभव होने लगता है और फिर तो अ तर में से ऐसा कोई गेबी आवाज आने लगता है कि नाथ जो तू है वो ही मैं हू मेरी आत्मा के शुद्ध चिदानद स्वरुप का विस्मरण होने से ही मै अनत काल मे चौराशी के चक्कर मे भटक रहा हू। आज मुझे जिन दर्शन के प्रभाव से ही भीतर का साक्षात्कार हुआ है नाथ! जो अनत गुण आप मे हैं वे ही अनत गुण मेरी आत्मा मे है इस बात मे कुछ अ तर नही है अ तर सिर्फ इतना ही है कि आपके गुण आविर्भाव स्वरुप है और मेरे गुण तिरोभाव स्वरुप हैं याने कर्मो के बन्धन क्षय करके आपने गुण प्रगट कर लिए है वे ही ज्ञानादि गुण मेरी आत्मा मे सत्तागत पडे हुए हैं। नाथ! आप अनत ज्ञान अनत दर्शन अनन्त वीर्यादि गुण प्रगट करके अनत चतुष्टय के स्वामी बन गये ह। योग मार्ग में पुरुपार्थ करके मेरा आत्मा भी अनत चतुष्टय का स्वामी बन सकता है। नाथ! आप ही ने तो फरमाया है कि अरिहतपद का अथवा सिद्धपद का किसी का ठेका नही हैं नाथ! सत्ता की अपेक्षा चाहू वर्तमान मे मेरा आत्मा भी अनत गुण समुदाय का पिंड है वही आत्मा पुरुपार्थ के बल से सत्ता

का प्रगटीकरण कर सकता है। अपने घर में ही पृथ्वी में दबा हुआ निधान है तो क्या उसको अपन प्रगट नहीं कर सकते है? वैसे ही आत्मा सत्तागत अनंत गुण समुदाय का भंडार है तो क्या आत्मा उसको प्रगट नहीं कर सकता है। हां। घर में निधान होने पर भी यदि प्रमाद मे ही पड़ा रहा तो भिखारी ही रहेगा और पुरुषार्थ के द्वारा जमीन खोदकर यदि निधान को प्रगट कर लेता है तो कोटी ध्वज सरदार बन सकता है वैसे ही पुरुषार्थ के द्वारा सत्तागत रहे हुए अनंत गुण समुदाय को प्रगट करके आत्मा भी कोटी ध्वज सरदार बन सकता है याने अनंत ज्ञान और अनंत दर्शन को प्राप्त कर लेता है और वही आत्मा प्रमाद में पड़ा रहता है तो कंगाल का कंगाल रहता है।

करोड़ो का जहां नफा वहां हजार दो हजार का घाटा क्या हिसाब में?

प्रतिमा के आलंबन से आत्मा महान उच्च गुणस्थान की भूमिका तक बड़ी आसानी से पहुंच सकता है। दशपूर्वधर आर्य सुहस्ति जैसे महापुरुष की निश्रा में संप्रति राजा ने सवा लाख जिन मंदिर निर्माण करवाये थे तो इससे सिद्ध हो गया कि प्रतिमा का आलंबन बिलकुल शास्त्र परम्परा मान्य है। अपूर्व आत्मिक लाभ का हेतू होने से ही महान पूर्वधर जैसे महापुरुषों ने उसको

मान्य रखा है। आज के कई मनुष्य हिंसा हिंसा कर के मंदिर का आलंबन छोड देते है तो क्या वह बात पूर्वधर जैसे महापुरुषो के दिमाग में नही आई होगी ? उन महापुरुषो को वस्तु स्वरूप का दिव्य ज्ञान था वे महापुरुष समझते थे कि इसमे लाभ तो अनंत गुणा है जब कि दोष तो नाम मात्र का भी नही है।

गंगा सिन्धु मे जब पानी की बाढ आती है तब उसमें किसी ने अफीम का एक टुकडा अथवा नमक का एक मुट्ठा भरके डाल दिया तो क्या इतने मे सारा पानी जहर अथवा खारा हो जायगा ? वैसे ही जिन प्रतिमा के आलंबन में हृदय म जब शुभ भावनाओ का प्रवाह बहने लगता है अथवा तो भक्ति भावना की बाढ आती है तब उसमे भगवान का अभिषेक करने मे और फूल चढाने मे जो सामान्य दोष लगता है वह क्या गिनती मे रहेगा व्यापार मे मे यदि लाभ करोडो का होता है तो उसमे यदि पाच दश हजार का घाटा भी हो गया तो वह घाटा क्या गिनती मे है ? याने कुछ भी गिनती मे नही है। इस विषय मे इसी पुस्तक में आगे काफी विवेचन दिया हुआ है। पाठक ज्यो ज्यो पुस्तक का पठन मनन करते जायेंगे त्यो त्यो मन का समाधान होता रहेगा।

संप्रति राजा की तरह साढे आठ सौ वर्ष पहले राजा कुमार पाल ने भी चरौवन चौदह हजार नये जिन मंदिर निर्माण करवाये थे और सोलह हजार प्राचीन मंदिरो का जीर्णोद्धार करवाया था।

आज भी शत्रुंजयगिरिराज पर,गिरनार पर,तारंगा हील पर राजा कुमारपाल ने जो मंदिर निर्माण करवाये थे वे विद्यमान है। इनके गुरु महान धर्म धुरंधर कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्राचार्य थे विमल शा मंत्री, वस्तुपाल, तेजपाल ने जो आबू गिरिराज पर मंदिर बनवाये है उन मंदिरों की शिल्प कला आज सारे विश्व में प्रसिद्ध है। धरणाशा सेठ ने राणकपुर में जो जिन मंदिर सात सो वर्ष पहले निर्माण करवाया था वह मंदिर आज समग्र विश्व मे बेजोड़ माना जा रहा है। करीबन दो सो वर्ष पहले मोतीशा सेठ जैसे महान श्रावकों ने बम्बई शहर में एवं शत्रुंजय गिरिराज पर महान विशाल जिन मंदिर निर्माण करवाये है और इस समय में भी बहुत से शहर और गांवों में जहां देखो वहां जिन मंदिर निर्माण होते जा रहे है। यह परम्परा अनादिकाल से चली आ रही हे और चलती ही रहेगी जो चीज सिद्धांत एवं शास्त्र मान्य है उसके प्रति कितना भी कोई विरोध दर्शावे वह चीज कभी विच्छिन्न होने वाली नहीं है उसकी परम्परा तो अविच्छिन्न ही रहेगी।

द्रौपदी ने कामदेव की नहीं मगर जिन प्रतिमा की पूजा की थी

ग्यारह अंग सूत्र में छट्ठा अंग सूत्र ज्ञाता धर्म कथा है उसमें अधिकार आया है स्वयंवर मंडप में जाने के पहले द्रौपदी ने जिन मंदिर में जाकर अष्ट प्रकारी पूजा की थी अकेली द्रव्य पूजा ही नहीं

मगर चैत्यवदना स्वरुप भाव पूजा भी की थी उसमे जिन प्रतिमा के सामने द्रोपदी ने नमुत्थुण का पाठ भी पढा है तब भी कितने ही प्रतिमा का अर्थ कामदेव की प्रतिमा करते है जो अर्थ द्रोपदी के अधिकार मे विलकुल सगत नही होता है। शब्दो के अनेक अर्थ हो सकते है मगर जहा जो अर्थ सगत हो वहा वही अर्थ लगाना चाहिये अन्य देवो के लिए शास्त्रो में नाग, यक्ष, किन्नर ऐसे ऐसे शब्दो का प्रयोग किया गया है। कामदेव के लिए कदर्प, मदन, अनग ऐसे शब्दो का प्रयोग हुआ है। कामदेव सभी को जीतने वाला है इस अपेक्षा को ध्यान में रख कर कहीं जिन शब्द का अर्थ कामदेव भी किया होगा ? मगर यहा वह अर्थ सगत नही है–

पू–अभयदेव सूरीश्वरजी आज से हजार वर्ष पहले महान समर्थ विद्वान हुए है। उन्होने ग्यारह अ गसूत्र मे से नौ अ ग सूत्रो पर अत्यत विद्वतापूर्ण टीकाए लिखि है उसमे श्री ज्ञाता सूत्र म द्रोपदी के अधिकार में जो पाठ आया है कि–

"जिणपडिमाण आलोए पणाम करेइ
जिण पडिमाओ अच्चेइ"।

इसमें जिन पडिमा इस शब्द का अर्थ पू–अभयदेवसूरी ने अरिहत परमात्मा की प्रतिमा का द्रोपदी ने पूजन किया ऐसा अर्थ किया है और वह अर्थ इस अधिकार के लिए विलकुल सुसगत है।

ऐसा होने पर भी आजकल सूत्रों पर नई टीकाएं बनाने वाले जिण पडिमा का अर्थ कामदेव की प्रतिमा कर रहे हैं। पूर्वाचार्यों की टीकाओं का आलंबन तो सभी को लेना ही पड़ता है प्राचीन टीकाओं का आलंबन लिये बिना तो सूत्रों का रहस्य पाना ही बहुत कठीन है। दृष्टांत आदि लेने में वो प्राचीन टीकाओं की मानो वे नकल ही कर रहे हैं। पूर्वाचार्यों ने सूत्रों पर जो टीकाएं बनाई है उसमे सूत्रो के बिलकुल सही अर्थ लिखे है मगर पूर्वाग्रह से पीड़ित नई टीका बनाने वालों को जहां अपनी मान्यता अनुसार अर्थ का तालमेल नहीं बेठता है वहां पूर्वाचार्यों के विरुद्ध कलम चलाने में भी उनको संकोच नहीं होता है। पूर्वाचार्यों का आधार लेकर उन्ही के विरुद्ध कलम चलाना वह तो उन महापुरुषों को घोर अन्याय करने जैसा है।

कहां उन महापुरुषो का अगाध ज्ञान और कहां उनके मुकाबले अपना अल्प ज्ञान ? आचारांग एवं सूत्रकृतांग सूत्र पर टीका लिखने वाले पू-शिलांकाचार्य,नवांगि टीकाकार पू-अभयदेव सूरी, कलिकाल सर्वज्ञ पू-हेमचन्द्राचार्यजी ये महापुरुष तो ज्ञान के महासागर थे उनके मुकाबले अपन तो खाबर भी नही है। वे ज्ञान सुधा के सिन्धु थे तो अपन बिन्दु मात्र है। कहां उनका ज्ञान क्षयोपशम और कहां अपना अल्प क्षयोपशम ? कितनी ही बार याद करते या रटते है तब दो चार गाथाएं कंठस्थ होती है तब वे महापुरुष तो प्रतिदिन सेकड़ो नई गाथाएं बना सकते थे।

वना सकते थे। उन्होंने जो सूत्रो का रहस्य पाया था उस रहस्य को इस काल के मनुष्य क्या पायेंगे। हजारो वर्ष पहले पूर्वाचार्यो ने जो सूत्रो की व्याख्या लिखी है उसको मान्य रख कर ही इस काल के मनुष्यो को आगे वढना चाहिए वरना सूत्र विरुद्ध प्ररुपणा करने का आत्मा पर ऐसा कलक चट जायगा जो भवोभव में भटकने पर भी आत्मा निष्कलक होवेगी नही।

अभी तक जिन्होंने सूत्रो पर की नियुक्ति भाष्यचूर्णी और टीकाए मान्य नही रखी थी सिर्फ मूल सूत्रो को ही मान्य रखते थे। कोई भी सवाल खडा होता था तव प्रत्युत्तर यही मिलता था कि मूल सूत्र मे कहा लिखा है ? हमें सूत्र पाठ वताइये ? अव वही सूत्रो पर नई टीका लिख रहे है तो फिर पूर्वाचार्यो की टिकाए मान्य रखने मे कठिनाई क्या आई ? वस कठिनाई यही आई कि सूत्रों में जहा "अरिहत चेइयाणी" अथवा "जिण-पडिमाण अच्चण करेइ" ऐसे पाठ आये है वहा वहा हजार वारह सो वर्ष पहले के टीकाकारो ने उन उन शब्दो का जिन प्रतिमा अर्थ किया है। अव प्राचीन टीकाए यदि मान्य रखी जाय तो प्रतिमा पूजा की प्राचीनता एव प्रतिमा पूजन की सूत्रानुसारिता अपने आप सिद्ध हो जाय इसलिए प्राचीन टीकाकारो के यथार्थ अर्थ को पलटने को नई टीकाए वनाई जा रही है।

द्रोपदी शादी के पहले भी समकित थी-

द्रोपदी ने जिन प्रतिमा की पूजा कर के अपने लिए अनुकूल वर नहीं मांगा है मगर नमुत्थुणं का पाठ बोलकर मोक्षपद जरूर मांगा है। यदि वह प्रतिमा कामदेव की होती तो द्रोपदी जैसी विवेकी श्राविका नमुत्थुणं का पाठ नहीं बोलती क्योंकि नमुत्थुण के पाठ में जो जो गुण बताये है वे जिनेश्वर सिवाय अन्य किसी में घटित नहीं होते है इसलिए वह पाठ अरिहंत परमात्मा की समक्ष ही बोला जा सकता है अथवा अरिहंत परमात्मा की प्रतिमा समक्ष बोला जा सकता है जैसलमेर के भंडार से प्राचीन से प्राचीन जो ज्ञाता सूत्र की प्रत निकलती है उसमें भी द्रोपदी ने जिनप्रतिमा के समक्ष जो नमुत्थुणं का पाठ कहा है उसका स्पष्ट अधिकार है। वह पाठ पीछे से लिखा हुआ नहीं है मूल अधिकार में है।

द्रोपदी को विवाह होने के बाद समकित हुआ था उसके पहले वह मिथ्या दृष्टि थी ऐसी प्ररूपणा करना वह भी सूत्रानुसार प्ररूपणा नहीं है।

पू. उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने इसी बात की पुष्टि में लिखा है कि:—

"वर नवीमागयो छे पूजतां, शक्रस्तवे शिवमांगरे
भक्ति समी सूरियाभ ने विरति विशेषथी जागेरे" ॥

उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने करीबन तीन सौ वर्ष पहले लिखि इस गाथा में स्पष्ट उल्लेख किया है कि द्रोपदी ने जिन प्रतिमा की पूजा करते समय अपने को अनुकूल ऐसा वर नहीं मागा है मगर नमुत्थुण का पाठ बोल कर मोक्ष पद मागा है।

रायपसेणी सूत्र में जैसे सूरियाभदेव ने भक्ति की है वैसे ही अत्यन्त ही उल्लास पूर्वक द्रोपदी ने भी जिनराज की भक्ति की है। इसमें कोई संदेह करेगें कि आनंद श्रावक की तरह भक्ति की ऐसा उल्लेख नही किया और सूरियाभ देव की तरह भक्ति की ऐसा क्यों कहा गया ? इसका उत्तर यही है कि सूरियाभ देव के अधिकार मे पूजा के विषय में अत्यन्त विस्तृत विवेचन किया गया है एवं सम्यग्‌दृष्टि देव जो परमात्मा की भक्ति करते है वह भी अत्यन्त विवेकपूर्ण होती है इसलिए द्रोपदी के अधिकार मे सूरियाभ कृत पूजा की जो पुष्टी दी गई है वह बिलकुल सत्य अर्थ में दी गई है।

द्रोपदी के अधिकार में जो 'जिन प्रतिमा' शब्द आया है उस शब्द का कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी ने भी षष्टिशलाका पुरुष चरित्र में अरिहन्त परमात्मा की प्रतिमा ऐसा अर्थ किया है इसलिए द्रोपदी ने कामदेव की प्रतिमा पूजी थी इस बात की सिद्धि में एक भी शास्त्रीय प्रमाण नहीं है।

द्रोपदी ने जब जिन प्रतिमा की पूजा की उस समय वह मिथ्या दृष्टि थी इसलिए मिथ्या दृष्टि की करणी हमे मान्य नही है ? ऐसा कितने ही मानते है मगर उनकी वह मान्यता बिलकुल गलत है। ज्ञाता सूत्र में कहीं ऐसा उल्लेख नहीं आया है कि द्रोपदी को विवाह होने के बाद समकित हुआ है। द्रोपदी ने भवान्तर में पांच भरतार की पत्नी बनने का नियाणा जरुर किया था मगर नियाणा तो सारे भव तक पहुंचता है जैसे दशाश्रुत स्कंध मे नौ नियाणे कहे है। उसमें नवमां नियाणा दीक्षा का कहा है सो दीक्षा लेने के समय नियाणां पूरा हो गया तो फिर उसी भव मे केवल ज्ञान होना चाहिए परन्तु नियाणे वाले को उसी भव में केवल ज्ञान होने की शास्त्रकारों ने मना किया है। इस बात पर से सिद्ध होता है कि नियाणा सम्पूर्ण भव पर्यन्त पहुंचता है और नियाणा यदि मन्द रस से किया होवे तो सम्यक्त्व आदि गुण प्राप्त हो सकते है। हां ! केवल ज्ञान प्राप्त नही हो सकता है। द्रोपदी का नियाणा मन्द रस पूर्वक का था इसलिए द्रोपदी को पाणीग्रहण के पहले ही सम्यक्त्व प्राप्त हुआ था इस बात में लव लेश भी संदेह रखने जैसा नहीं है इसलिए द्रोपदी ने पाणी ग्रहण करने के पहले जब जिन पूजा की थी उस समय वह मिथ्या-दृष्टि नही मगर शुद्ध सम्यग् दृष्टि श्राविका थी इस बात का भी अब मन मे सन्देह नही रखना चाहिए।

नियाणे का कर्म तो जिंदगी पर्यन्त तक भोगना पडता है उसमे ऐसा नही है कि पात्र भरतार के साथ शादी होते ही नियाणा खत्म हो गया। कृष्ण वासुदेव भी नियाणा बाध कर आये थे और वह कर्म उनको सारी जिंदगी तक भोगना पडा था। वासुदेव पद मिला कि नियाणा खत्म हुआ ऐसा शास्त्र मे कही नही लिखा है–तव भी श्री कृष्णजी को क्षायिक समकित का लाभ हुआ था। इससे सिद्ध होता है कि मन्द रस से वाधा हुआ नियाणा सम्यक्त्व प्राप्ति मे वाधा नही डालता है इसलिए द्रोपदी की जिन-पुजा प्रत्येक श्रावक श्राविकाओ को अवश्य करने योग्य है। द्रोपदी भी शास्त्रो मे महा सती कहलाई है।

"द्रोपदी अधिकार में प्रतिमा पूजन की पूज्य अभयदेव सूरी द्वारा पुष्टी"।

करीवन हजार वर्ष पहले ज्ञाता सूत्र पर लिखी टीका में पू अभयदेव सूरीजी ने ज्ञाता सूत्र के द्रोपदी अधिकार में द्रोपदी ने स्वयवर मडप में जाने के पहले जो जिन प्रतिमा की पूजा की थी उस वात की सपूर्ण पुष्टि की है। वात ऐसी होने पर भी ज्ञाता सूत्र पर इस वीसवी सदी में नई टीका लिखने वाले स्थानक वासी सप्रदाय के मुनि श्री घासीलालजी ने अपने द्वारा लिखी गई ज्ञाता सूत्र की टीका के तीसरे भाग में ४०६ मे पेज पर लिखा है कि—

"जिण पडिमाणं अच्चणं करेइ"

इस पाठ के आधार से टीकाकार अभयदेव सूरी ने जिन प्रतिमा पूजन की जो बात लिखी है वह योग्य नहीं है क्योंकि उनको मूल पाठ का निश्चय ही नही हुआ है अब कहां अभयदेव सूरी का क्षयोपक्षम ? और कहां आजकल के मनुष्यों का क्षयोपशम ? पूर्वाचार्यो की टीकाओं के आलंबन से आज हम थोड़ा बहुत सूत्रों का रहस्य समझ सकते है उन महापुरुषों का तो अपने को अनंत उपकार मानना चाहिए कि जिन्होंने सूत्रों के रहस्य स्पष्ट किये है उसके बदले ऐसा लिखना कि अभयदेव सूरी ने जो जिन प्रतिमा की पूजा की बात कही है वह योग्य नहीं है ? क्या उन महापुरुष का मुकाबला करने जितना अपने में पांडित्य है ? पूज्यपाद अभयदेवसूरी क्या कम ज्ञानी थे ? वे तो महाज्ञानी पुरुष थे ? उनको सूत्र पाठ का भी पक्का निर्णय था। द्रोपदी पूजा के अधिकार में किसी वांचना भेद की बात लिखि हो तो वह भी तो हजारों वर्ष पहले की लिखी है उसमे उन्होंने द्रोपदी ने जो जिन प्रतिमा की पूजा की है और पूजा के बाद प्रतिमाजी के सामने नमुत्थुणं का जो पाठ पढ़ा है वह बराबर मान्य रखा है।

अब अभयदेवसूरी को सूत्र के मूल पाठ का निर्णय ही नही था यह बात कैसे मानी जा सकती है ? प्रतिमा पूजन मे श्रद्धा नहीं रखने वालों का तो उन महापुरुष के समय में जन्म ही नही

हुआ था तो वे कौनसा आधार लेकर उन महापुरुष की समालोचना कर रहे है ? चाहें प्रतिमा पूजन मे नही मानने वाले जिन प्रतिमा अथवा चैत्य शब्द का अर्थ बुद्ध भी करे तब भी प्रतिमा पूजन की बात शास्त्रो मे जगह-२ आती है। अब कोई अर्थ का अनर्थ भी करे तो उनको इस काल मे कौन रोकने वाला है ? प्रतिमा पूजन को नही मानने वाले किसी भी जैन आगम सूत्र में से एक भी ऐसा पाठ निकाल कर बतावे कि जिसमे ऐसा लिखा हो कि जिन प्रतिमा मानने योग्य नही है और मानने से उनमे बड़ा दोष है। जड प्रतिमा की उपासना मे कोई लाभ नहीं है। ऐसा पाठ मूल सूत्र में से निकाल कर बतावे ? तब हम उनकी बात सत्य अर्थ मे समझेगें और इस पुस्तक मे हमने तो प्रतिमा पूजन की सिद्धि मे अनेक सूत्रो के पाठ प्रस्तुत किये हैं। पूर्वकाल के टीकाकार महापुरुषो ने भी जहा जहा सूत्रो मे जिन प्रतिमा एव अरिहत चैत्यो की बात आई है वहा-वहा इतना दिव्य प्रकाश डाला है कि उन टीकाओ के आधार मे अर्थ करने वाले किसी भी व्यक्ति को दिव्य प्रकाश मिल सकता है इतना ही नही स्पष्ट दर्शन होने से सम्यग् दर्शन का भी अपूर्व लाभ हो सकता है। कदाग्रह ही यदि नही छोडना है तो वैसे मनुष्यो को साक्षात ब्रह्मा भी नहीं समझा सकते है।

लाभ मेरु तुल्य और दोष मात्र अणु तुल्य

पूजा विधि मे षटकाय के आरम्भ का दोष बताकर कितने

ही पूजा का निषेध करते है मानों पूर्वाचार्यों को षटकाय के स्वरूप का ज्ञान ही नही था ? पूजाविधि बताने वाले पूर्वाचार्यों को षटकाय के स्वरूप का और उसके आरम्भ समारंभ का संपूर्ण ज्ञान था तब भी उन महापुरुषों ने फरमाया है कि जिस करणी में अल्प दोष हो और महान लाभ हो याने दोष तो अणु तुल्य हो और लाभ मेरु पर्वत तुल्य हो वह करणी गृहस्थों के लिए अवश्य करने योग्य है। इतना ही नही साधु मार्ग में भी महान लाभ के लिए कभी-कभी अल्प दोष का सेवन करना पड़ता है। साधु ग्रामानुग्राम विचरते रहे उसमें अपूर्व लाभ है। अब विहार में सामान्य दोष लग भी जाते है कदम उठाये विना तो विहार हो ही नहीं सकता है। साधु भले ही इर्यासमिति का पालन करते हुए विचरण करते है तब भी प्रमाद के कारण कभी कभी विराधना का दोष लग ही जाता है। रास्ते मे नदी आवे और नदी पर पुल न होवे तो कच्चे पानी में पांव रखकर नदी पार करनी पड़ती है उसमें दोष तो जरुर लगता है मगर ग्रामानुग्राम विचरण करने से जो अपूर्व लाभ होता है उसके मुकाबले दोष जो लगता है वह कुछ भी हिसाब में नहीं है।

साधु नवकल्पी विहार का मार्ग छोड़कर यदि एक ही स्थान पर वर्षो तक पड़े रहेगें तो संग दोष लगे विना रहेगा नहीं। संग दोष के कारण आखिर राग द्वेष उत्पन्न होवेगें फिर तो साधुता ही क्या रहेगी ? उन महान दोषों की अपेक्षा विहार में जो भी

दोप लगते है वे कुछ भी गिनती मे नही है। मार्ग की मर्यादा ऐसी होने पर भी यह कहते रहना कि जहा हिंसा वहा जिनाज्ञा नही। तो फिर पचमहाव्रतधारी साधुओ से विहार कैसे होगा? विहार मे कभी नदी उतरने का समय आया तो नदी कैसे पार करेंगे? हिंसा का सवाल आगे करके जो जिन पूजा का निपेध करते है उनको यह सब बाते विचारनी होगी। भगवान सर्वज्ञ एव हिंसा अहिंसा के सपूर्ण मर्मज्ञ होने पर भी विहार मे साधुओ को नदी पार करके भी ग्रामानुग्राम विचरण करने की आज्ञा फरमाई है। साधु एक स्थान में ही स्थिरवास करके रहे उस अपेक्षा ग्रामानुग्राम विचरते रहे उसमे भगवान ने महान लाभ देखा है। वर्पा काल मे साधु चार महिना किसी भी योग्य क्षेत्र मे चातुर्मास रहे वह बात अलग है क्योकि वर्पाकाल मे चार महिना एक स्थान म रहने की भगवान की आज्ञा है बाकी शेप काल मे तो साधु विचरता भला क्यो कि—

"वहता जल निर्मला बधा गदा होय।"
"साधुजन फिरते भले दाग न लागे कोय"।

जैन धर्म का सापेक्षवाद समझे विना एक भी बात दिमाग मे बैठने वाली नहीं है, हिंसा को सभी पाप समझते है मगर जहा भीतर के अध्यवसायो मे रोद्रता नही है वल्कि शुद्धता है वहा भले सामान्य दोप लग भी जाय मगर लाभा लाभ की अपेक्षा वह दोष किसी गिनती मे नही है। एक जिन पूजा में ही हिंसा है

और किसी धर्मानुष्ठान में हिंसा का दोष लगता ही नहीं है ऐसी एकांतिक मान्यता हो तो वह बिलकुल मिथ्या है।

साधु साध्वीजी जहां चातुर्मास रहते है वहां उनके दर्शन वंदन को हजारों लोग गांवोगांव से आते रहते है उनकी व्यवस्था निमित्त चौका भी चलाना पड़ता है कई भाग्यवान साधर्मिव वात्सल्य का लाभ उठाते है। चोका चलाने में आरंभ का दोष तो लगेगा ही तो वे सार्धमिक भक्ति का लाभ उठाने वाले पूण्य के भागी होवेगें कि पाप कर्म के भागी होवेगें ? इस बात पर पूर्ण विचार करना होगा।

मुनि भगवंतो को दान देने के समय गरम चाय अथवा गर्म दूध वेहराने के समय चाय या दूध में से जो भाप निकलती है उसमे असंख्य वायुकाय के जीवों की हिसा होती है तो जहाँ हिंसा है वहां सुपात्र दान का भी क्या महत्व रहेगा ? जिन पूजा मे जिन को हिसा का दर्शन होता है उनको इन सभी वातों में हिंसा का दर्शन कैसे नहीं हुआ ? इतना ही नहीं चातुर्मास में साधु साध्वीजी को दर्शन वंदनार्थ कैसे क्या जा सकेंगे ? क्योंकि रास्ते में मोटर बसे चलेगी क्या कोई न कोई जीव की हिंसा हुए विना रहेगी ? बडे बड़े सांप भी मोटर के नीचे आ जाते है कीड़े मकोड़े जैसे छोटे प्राणियों की तो वाहन के नीचे हिसा होती ही रहती है। उसमें भी वर्षा-ऋतु में तो वाहन चलाने से इतनी विराधना होती है

जिसका शब्दो मे वर्णन नही किया जा सकता है तब भी जहा बडे महान आचार्यों का चतुर्मास कराया जाता है वहा दर्शनार्थिओं की भीड लगी रहती है सारे चातुर्मास मे मानो भक्त जनो का ताता लगा रहता है। अब रास्ते में घोर विराधना का दोष लगने पर भी साधु सतो के दर्शन वदन करके एव उनके मुह की अमृतमय वाणी का पान करके भक्तजन अपने को धन्य समझते है अब सोचीए कहा हिंसा का दोष नही लगता है ? इसलिए जिनको हिंसा का दोष ही नही लगाना है उनके लिए तो एक ही रास्ता खुला रहता है वे किसी निर्जन प्रदेश में पादोपगमन सथारा कर लेवे। बाकि कोई शुभ प्रवृत्ति होगी नही और सथारा करने पर भी नाक के द्वारा तो हवा निकलेगी उसमे भी थोडा सामान्य दोष तो लगेगा ही।

रौद्रपरिणाम के कारण तदूल मत्स्य की दूर्गति-

अशुभ परिणाम से बध है और शुभ परिणाम से मोक्ष है इस मौलिक सिद्धात को जिन्होने सूक्ष्म बुद्धि मे नही विचारा है उनको सवर निर्जरा का रास्ता मिलना अति दूर्लभ है। तदूलिये मत्स्य का शास्त्रो मे दृष्टात आया है जिसका शरीर चावल के दाने जितना होता है और आयुष्य सिर्फ दो घडी का होता है और वह बडे मत्स्य की आख की भौह मे

क्रियाएं छोड़नी पड़ेगी सिर्फ पादोपगमन संथारा ही पच्चक्खना पड़ेगा ?

नहीं ! नहीं ! ऐसा मत कहो ! धर्म क्रियाएं छोड़ने का हमारे लिए सवाल ही खड़ा नहीं होता है। हम क्रियाएं करते है तो उसमें हम हिंसा का भाव थोड़ा ही रखते हैं ? हमारे मन परिणाम उसमें शुद्ध होते है इससे हमे विरावना का दोष कैसे लगेगा ? तो फिर ऐसा ही आप जिनपूजा के लिए समझ लो ने ? उसमें भी जो पूजा करने वाले है उनके मन परिणाम परमात्मा की भक्ति के होते है। जीववध के परिणाम उनके कतई नहीं होते है इसलिए जिनपूजा करने वालों को भी उस क्रिया से हिंसा का दोष लगने का सवाल ही नहीं रहता है अतः सामायिक. प्रतिकमण पौषध, व्रत, पच्चक्खाणादि शुभ-क्रियाए श्रावकों के लिए जैसे अत्यन्त शुभ फलदायक है वैसे ही जिन प्रतिमा पूजन भी सम्यक्त्व की महान शुभ करणी होने से श्रावकों के लिए महान फल-दायक है।

एक अपूर्व घटना

किसी गांव के बाहर वड़ा भारी जिन मंदिर था वहां बारह महिने में एक बार मेला लगता था। मेले के दिन यात्रियों की भीड़ लगती थी गांव में से बहुत से लोग दर्शन करने जा रहे थे

उसमें एक बहन छोटे बच्चे को साथ लेकर दर्शन करने के लिए आई। दर्शन के बाद उसका बच्चा अपनी मा से अलग हो गया और इधर उधर खेलने लगा और किसी एक गड्ढे में उतर पडा उस गड्ढे में साप का बिल था और साप बाहर निकल कर बच्चे के नजदीक में ही फेन चढाकर बैठ गया इतने में उस बालक की मा बच्चे की शोध में गड्ढे के पास आ पहुची और एक दम बच्चे को खीचकर गड्ढे में से बाहर निकाल लिया जोर से खीच कर निकालने से उसके शरीर की चमडी रगडाने से थोडा खून भी बहने लगा मगर जीव बच गया शरीर को नुकसान तो थोडा सा हुआ मगर जीव की रक्षा हो गई वह लाभ अनत गुणा हुआ वैसे ही जिनपूजा वगैरह धार्मिक अनुष्ठानो मे नुकसान देखा जाय तो कुछ भी नही है और लाभ तो इतना महान है कि आत्मा के ज्ञान, दर्शनादि रुप भावप्राणो की रक्षा हो सकती है। यदि मनुष्य जिन पुजा जैसी शुभ करणी का त्याग करके विषय-कषाय रुप प्रमाद मे पडा रहता है तो उसके भाव प्राणो का क्या रक्षण होने वाला है ?

हा ! भाव प्राणो के नाश रुप भावमरण प्रतिक्षण जरुर होता रहेगा इसलिए केवल नुकसान का ही पलडा नही देखने का है मगर लाभानुलाभ का भी पलडा अवश्य देखना होता है।

प्रभु प्रतिमा के आलबन से कभी कभी ऐसे शुभ भाव प्रगट होते है कि यदि चोथे आरे का काल होव और

भीतर की परिणाम की धारा में यदि उत्तरोत्तर वृद्धि हो होती रहे तो जीव केवल ज्ञान को भी प्राप्त कर लेता हैं इस विषय की पुष्टी में नागकेतू का शास्त्रों में अत्यन्त सुप्रसिद्ध दृष्टात है जिसका उल्लेख श्री कल्पसूत्र की टीका में पूज्य उपाध्याय विनयविजयजी ने किया है नागकेतू जिन मंदिर में पुष्प पूजा कर रहे थे उसी समय पुष्प में रहे छोटे से नाग ने उनकी अंगुली पर डंक मारा मगर नागकेतू उस समय एक दम भावना की श्रेणी पर आरुढ हो गये और वही उनको केवल ज्ञान प्राप्त हो गया। पूज्य देवचंद्रजी महाराज ने ठीक ही फरमाया है कि—

"स्वामी गुण ओलखी स्वामी ने जो भजे
दर्शन शुद्धता तेह पामे
ज्ञान चारित्र तप वीर्य उल्लास थी
कर्म झी पी वसे मुक्ति धामे"।

देवाधिदेव अरिहंत परमात्मा के ज्ञान, दर्शन, क्षमा, नम्रता, सरलता आदि गुणो को पहचान कर जो उनको भजते हैं वे दर्शन विशुद्धि को प्राप्त कर लेते है इतना ही नही ज्ञान, चारित्र, तप एवं अपूर्व वीर्योल्लास के द्वारा सभी कर्मो का क्षय करके मुक्ति धाम में जा वसते है।

बाह्य दृष्टि से सावद्य मगर परिणामे निर्वद्य

परिणाम के वश बंध और मोक्ष का जो विधान फरमाया है वह यथा तथ्य है जैसे मुनि को विहार में नदी पार करने के समय परिणाम में लव लेश भी अपकाय के जीवो पर निर्दयता का भाव नही होता है वैसे ही जिनपूजा मे श्रावको के मन परिणाम भी विशुद्ध होते है। पुष्पादिक एकेन्द्रिय जीवो पर लव लेश भी हृदय मे निर्दयता का भाव नही होता है पूजा अनुष्ठान बाह्य दृष्टि से सावद्य दिखता हो मगर वह अनुष्ठान परिणामे निर्वद्य है। अत्यन्त शुभ भाववर्धक होने से सम्यक्त्व प्राप्ति एव दर्शन विशुद्धि का प्रबल निमित्त भूत है।

इस विषय मे कोई शका उठा सकते है कि नदी पार करना वह तो मुनि के लिए एक अपवाद मार्ग है और उसका प्रायश्चित भी लिया जाता है इस शका का समाधान यही हो सकता है कि जिन्होंने त्रिविध आरभ समारभ का त्याग किया हुआ है उन मुनियो को भी यदि अपवाद का सेवन करना पडता है तो फिर श्रावक तो यो ही आरभ समारभ में ही बैठा हुआ है वैसी स्थिति में श्रावक को यदी परिणाम विशुद्धि का जिन पूजा के निमित्त अपूर्व लाभ मिलता हो तो सामान्य दोष का सेवन करने में श्रावक पणे को कौनसी बाधा पहुचने वाली है? जिन पूजा के निमित्त ही श्रावक को आरभ का दोष

असदारंभी की अपेक्षा सदारंभी बनना बहुत ही अच्छा

जब तक योग क्रिया नही थंभी है तब तक सभी जीव योगारंभी है क्योंकि जब देखो तब मन योग, वचन योग और काय योग का व्यापार चलता ही रहता है तो फिर उसमें असदारंभी होने की अपेक्षा सदारंभी होना क्या गलत बात है ? याने कुछ भी गलत बात नही है। घर का काम करने में, व्यापार वाणिज्य करने में, रसोई बनाने मे सब मे गृहस्थ को आरंभ दोष तो लगता ही है वह सब असदारंभ है। अब पूजा में भी थोड़ा आरंभ दोष आता है मगर वह सदारंभ है वह सदारंभ ऐसा है कि उसके फलस्वरुप गृहस्थ आखिर निरारंभी बनता है। रोज जिन भगवान का दर्शन वंदन एवं पूजन करते करते श्रावक को एक दिन परमात्मा के बतलाये गये रास्ते पर मंगल प्रस्थान करने की भावना प्रगट होती है और वीतराग परमात्मा का प्रतिदिन दर्शन, वंदन पूजन करने वाला श्रावक विरक्त भाव में आकर अन्त में विरति का मार्ग पकड़ लेता है और आरंभ समारंभादि का त्याग करते हुए सर्वथा निरारंभी एवं विरति धर बन जाता है।

महान पुरुषों की विशुद्ध परम्परा

मूर्ति पूजा में श्रद्धा रखने वाले बड़े बड़े महान पुरुष जैन दर्शन

की सुविशुद्ध परम्परा मे हुए हैं। इसी पुस्तक में दशवैकालिक सूत्र के रचयिता मय्यभव स्वामी का उल्लेख किया गया है जिन प्रतिमा के दर्शन मे उनको प्रतिवोध हुआ था ऐसा विधान साफ साफ शब्दो मे भद्रवाहु स्वामी ने दशवैकालिक निर्युक्ति मे किया है। निर्युक्ति मान्य रखने का भगवती सुत्र मे विधान किया गया है। श्री भगवती सूत्र के पच्चीस वे शतक मे कहा है–

"मुत्तत्थो खलुपढमो वीओ मिज्जुत्ति
मिस्सिओ भणिओ"।

प्रथम शिष्य को सूत्रार्थ देना दूसरा निर्युक्ति महित सूत्र का रहस्य समझाना इस तरह भगवती सूत्र मे निर्युक्ति मान्य रखने का विधान है ऐसा भी तर्क दिया जाता है कि निर्युक्ति टीकाओ मे परस्पर विरोध आता है इसलिए निर्युक्ति हम मान्य नही रखते है है जब ऐसा ही है तव तो मूल सूत्रो के पाठ मे भी वहुत सी जगहो पर परस्पर विरोध आता है। तव तो मूल सूत्र भी कैसे क्या मान्य करेगे ? और मान्य रखते तो है ?

श्री समवायाग सूत्र में श्री मल्लीनाथजी के ५७०० मनपर्यंव ज्ञानी कहे है और श्री ज्ञाता सूत्र मे ८०० कहे है ये दोनो मूल सूत्र हैं। अव निर्युक्ति टीका की वात छोडो मूल सूत्र को कैसे क्या मान्य करोगे ?

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के ३३ वे अध्ययन में वेदनीयकर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहुर्त की कही है और पन्नवणा सूत्र के ३३ वे पद में बारह मुहुर्त की कही है। श्री ज्ञातासूत्र में श्री कृष्ण की ३२००० रानियां कही है और अन्तगढ़ दशांग में १६००० कही है अब ये सूत्र की परस्पर विरुद्ध बाते कैसे क्या मान्य करेगें ? जब ये बाते मान्य करेंगे तो; निर्युक्ति मान्य करने में क्या हरकत है ? जहां मूल सूत्रों में परस्पर विरोधाभास लगता हो उसका भी महापुरुषों ने योग्य समाधान निकाला है। भव भीरु महान गीतार्थ पुरुषों ने निर्युक्ति भाष्य चूर्णी टीकाएं लिखी है उन लिखने वाले महापुरुषों ने भी कहीं सूत्र विरुद्ध प्ररुपणा न हो जाय उस बात का पूरा ख्याल रखा है क्योंकि उनको भी उत्सूत्र प्ररुपणा का पूरा पूरा भय था इसलिए मूल सूत्रों का सही वास्तविक अर्थ एवं रहस्य जानना हो तो मूल सूत्रों की तरह निर्युक्ति भाष्य चूर्णी एवं सूत्रों पर की टीकाओ को भी अवश्य मान्य रखना चाहिये। कितने ही अपनी मान्यता के अनुकूल जो जो पाठ टीका चूर्णि में हो वे ले लेते है और अपनी मान्यता के विरुद्ध मूर्ति पूजा के पाठ निर्युक्ति भाष्य चूर्णी टीका में मिलते हो वहां उनको परस्पर विरोध महसूस होता है तो मूर्ति पूजा के पाठ मूल सूत्रों में भी कई जगहो पर मिल आते है जो हमने इसी पुस्तक में वे पाठ दिये हुऐ है। जब तक विपरित मान्यता का आग्रह

नहीं छुटता है तब तक सत्य का दर्शन होना अति दूर्लभ है। आग्रह भले ही हो परन्तु दुराग्रह के बदले यदि सदाग्रह रखा जाय तो मनुष्य को तुरन्त प्रतिबोध हो सकता है।

जैन शासन की अविच्छिन्न परम्परा में चौदह पूर्वधर भगवान स्यूलीभद्र स्वामी के शिष्य आर्यमहागिरि एव आर्यसुहस्ति दोनों महान समर्थ पुरुष हुए है उसमे आर्य सुहस्ति से राजा सप्रति को प्रतिबोध हुआ था। आर्यसुहस्ति दशपूर्वी थे उसके बाद भगवान उमास्वाति सिद्धसेन दिवाकर, जिन भद्रगणि, क्षमाश्रमण हरिभद्राचार्य, कलिकाल, सर्वज्ञ हेमचद्राचार्य जैसे जिनशासन के स्तभ समान महान पुरुष हुए है। अभी अभी मे ३०० वर्ष पहले पूज्य उपाध्याय यशोविजयजी, योगीराज आनदघनजी जैसे महान जिन शासन मे चमकते सितारे हुए है। इन सभी महापुरुषों ने सूत्र और सिद्धात की साख दे दे कर जिन प्रतिमा की सिद्धि की है। ये सब महान ज्ञानी और ज्योतिर्धर पुरुष होने पर भी जिन प्रतिमा का आलबन मान्य रखने वाले थे। यह है जैन शासन की उज्जवल एव अविच्छिन्न परम्परा।

शिथिलाचारी थे उस समय मे भी महाव्रत-धारी मौजूद थे–

अब इन महान उज्जवल परम्परा को छोडकर करीबन चार सौ पाच सौ वर्ष पहले लोकाशाह ने मूर्तिपूजा विरुद्ध परम्परा

चलाई थी उस परंपरा को मान्यता देकर के आज तक में लाखो मनुष्य मूर्तिपूजा से विमुख हो गये। गृहस्थ का चलाया हुआ मार्ग मान्य ही नहीं हो सकता है जिस परंपरा का उल्लेख कर गये है वह परम्परा तो भगवान महावीर एवं सुधर्मास्वामी से अविच्छिन्न रुप से चली आ रही है जिसमे अनेक महान ज्योतिर्धर महापुरुष हुए है। आज उन महापुरुपों का साहित्य भी इस उज्जवल परम्परा की साक्षी दे रहा है।

ऐसा होने पर भी बोलने वाले बोलते ही है कि "यतियों में बहुत शिथिलाचार व्याप्त हो गया था जैन मार्ग मे पूरी शिथिला फैल गई थी लोकाशाह ने शिथिलता को दूर किया और दया धर्म का उद्धार किया"। अपने मान्य पुरुषों का महत्व वढाने को सब कोई लिखते रहते है। शिथिलता तो आज भी वढ़ती जा रही है तो क्यां इतने मात्र से अपनी सुविशुद्ध परम्परा को छोड़ देना? जिस समय मे शिथिलाचार फैला हुआ था उस समय आचार संहिता का पालन दृढ़ता से करने वाले महान पुरुष भी तो दूनिया में मौजूद थे। पू. पाद् जगद्गुरु–हीरसूरीजी महाराजा, पू. सेन सूरीजी महाराजा, पू. देवसूरीजी महाराजा पू–यशोविजयजी महाराजा, पू–विनयविजयजी, पू–आनंदघनजी महाराजा ये सभी महान पुरुष विक्रम सं–१५९६ की साल से सत्तरा सो की साल पर्यन्त में हुए है और उसके बाद भी पू–पं—

सत्यविजय पू-पदमविजयजी आदि उत्तरोत्तर वहुत से धर्म धुरन्धर सुविशुद्ध चारित्र का पालन करने वाले महापुरुष हुए है। इन महापुरुषो का ही आलवन लिया जाता तो सुविशुद्ध परम्परा छोड़ने का समय आता ही नही ? चैत्यवास के कारण यतियो मे शिथीलाचार प्रविष्ट कर गया था तो वह उन्ही को मुबारक था। यतियो को ही क्या दोष देना एक समय ऐसा भी आया था जिस समय यतिओ ने भी धर्म की रक्षा की थी और आज प्रत्येक सप्रदायो के साधुओ मे भी शिथिलाचार प्रविष्ट करता जा रहा है और साथ साथ इस पडत काल मे भी कई महापुरुष त्यागी, वैरागी, उग्र तपस्वी होने के साथ तलवार की धार पर चलने की माफक पचमहाव्रतो का पालन कर रहे है। जीवमात्र कर्माधीन है सयम मार्ग लेने पर भी तीव्र कर्मोदय के कारण उन्नति और अवनति हो सकती है परन्तु इतने मात्र से मूल मार्ग से विमुख बनने की कोई जरुर नही।

पच महाव्रतधारी महापुरुष ही मोक्ष मार्ग के महान सूत्रधार है। श्रावक तो श्रमणोपासक कहे जाते है। देवाधिदेव तीर्थ करो के द्वारा मोक्ष मार्ग प्रवर्ताया जाता है और उन महापुरुषो का निर्वाण होने के वाद पू-आचार्य एव उपाध्यायादि महापुरुष ही मार्ग की धुरा को वहन करते आये है और आगे भी वहन करते रहेगे। इस पचम काल मे भी इक्कीस हजार वर्ष पर्यन्त शासन अविच्छिन्न रुप से चलने वाला है यह विधान भगवती सूत्र मे

गणधर भगवंतो ने किया है बीच में विच्छिन्न हो गया ने फिर किसी ने उद्धार किया ऐसा किसी महापुरुष ने विधान नही किया है। जब जब प्रभावक महापुरुष होते है तब तब जिन शासन का प्रभाव जरुर बढ़ता है एवं धर्म का उद्योत भी होता है बाकि शासन विच्छिन्न होने का तो सवाल ही नहीं रहता है।

गृहस्थ कितना भी प्रभावशालि क्यों न हो मगर वह मार्ग का सुकानी नही बन सकता है। श्रावक तो श्रमणोपासक ही कहलायेगा। घड़ी भर के लिए मान ले कि लोकाशाह ने मार्ग का उद्धार किया और उस मार्ग में साधु भी बहुत है मगर लोकाशाह तो स्वयं गृहस्थ थे तब उस मार्ग में आदि दीक्षा गुरु कौन है ? चार सौ पांच सौ वर्ष पहले जब यह पंथ निकला और शुरुआत में तो उस पंथ मे बावीश आदमी दीक्षित बने। उनके दीक्षा गुरु कौन बने थे ? स्वय लोकाशाह ने भी दीक्षा ली हो तो उनको दीक्षा देने वाले कौन थे ? जैन मार्ग में दीक्षित बनने वालो को गुरु तो पहले धारना पड़ता है। गुरु बिना का जो भी पंथ हो उसको तो नूगरे का पंथ कहा जाता है। गुरु विना मार्ग ही कौन बतायेगा ? जबकि जैन मार्ग की मूल परम्परा मे गुरुपद की परम्परा अविच्छिन्न रुप से चली आ रही है इस बात की पुष्टि में कई महापुरुषों के नाम का उल्लेख इसी पुस्तक में कर आये है।

बीच में महापुरुषो की सुविशुद्ध परपरा का जो उल्लेख किया गया है उसमे पू-उमास्वाति के नाम का भी उल्लेख किया है। उमास्वाति ऐसे महान पुरुष हुए है जो श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परम्परा मे मान्य पुरुष है। उन्होने पाच सौ प्रकरण ग्रन्थ लिखे थे उसमे 'तत्वार्थ सूत्र' उनका लिखा हुआ आज अत्यन्त सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है जिस शास्त्र को श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनो मान्य रखते है। दूसरा प्रशमरति प्रकरण उन्होने लिखा हुआ आज भी उपलब्ध है। जिस ग्रन्थ की रचना अत्यन्त भाव पूर्ण सुमधुर एव रोचक है आध्यात्मिक विषयो पर का सर्वोत्तम ग्रन्थ है। करीबन् दो हजार वर्ष पहले का शास्त्र है उसमें पू-उमास्वाति ने श्रावको के लिए प्रतिमा पूजन का उल्लेख इस प्रकार किया है कि—

"चैत्यायतन प्रस्थापनानि, कृत्वा च शक्तित प्रयत ।
पूजाश्च गध माल्याधिवास धूप प्रदिपाद्या "।

अपनी शक्ति अनुसार जिन चैत्य की स्थापना करके उसमे प्रतिष्ठित किये जिन बिंब की श्रावक सुगधी पुष्प तथा धूप प्रदिपादी द्वारा पूजा करे। इस गाथा मे पू-उमास्वाति ने श्रावक को जिन मदिर निर्माण करने का एव जिन प्रतिमा का पूजन अर्चन करने का साफ साफ शब्दो म उपदेश दिया है। श्री पन्नवणा सूत्र के रचयिता श्यामाचार्य एव उमास्वाति समकालीन महापुरुष हुए है। जब ऐसे महान ज्ञानी पुरुषो के वचन भी अपनी श्रद्धा के

विषय में नही लिये गये तो फिर यह जैन परम्परा मे जन्म लेने का भी क्या अर्थ रहेगा ? और भी जैन परम्परा में हुए सिद्धसेन, हरिभद्राचार्य, हेमचन्द्राचार्यादि महापुरुषों का इसी पुस्तक में उल्लेख कर चुका हूं। उन सभी महापुरुषों ने अपने अपने स्वरचित ग्रन्थों में प्रतिमा पूजन का सा० साफ शब्दों में उलेख किया है।

जैन शासन के उज्जवल इतिहास पर वेधक प्रकाश

श्रीमद् राजचन्द्रजी अध्यात्मिक सत्पुरुष हुए है जिनसे महात्मा गाँधी को प्रतिवोध हुआ था। गांधीजी ने तीन गुरु माने थे उसमे श्रीमद् राजचन्द्रजी को भी गुरु माना था। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी को अत्यन्त भावपूर्ण श्रद्धांजलि सर्मपित की है। उपदेश नोंध में उन्होने लिखा है कि "श्री हेमचन्द्राचार्य ने वहुत कुछ किया। श्री आनंदघनजी हेमचन्द्राचार्य से छः सौ वर्ष बाद मे हुए। इस छः सौ वर्ष के अन्तराल में दूसरे उनके जैसे हेमचन्द्राचार्य की जरुर थी। विषमता व्याप रही थी, काल उग्र स्वरुप ले रहा था। वीच मे श्री वल्लभाचार्यजी ने पुष्टी मार्ग को प्रवर्ताया था उसका उल्लेख करने के वाद उन्होने लिखा है कि "त्यां प्रतिमा प्रतिपक्ष जैन मांज उभो थयो" याने इतने में प्रतिमा विरोधी पक्ष जैन सम्प्रदाय में

ही उत्पन्न हुआ। ध्यान का कारण स्वरूप प्राप्ति का साधन ऐसी जिन प्रतिमा प्रति लाखो दृष्टि विमुख हुए ? वीतराग परमात्मा के शास्त्र कल्पित अर्थ करने मे विराधित हुए। कितने ही तो समूल से खडित हुए। इस तरह से इस छह सौ वर्ष के बीच मे दूसरे हेमचन्द्राचार्य जैसे महान पुरुष की जरूरत थी। अन्य बहुत से आचार्य हुए मगर वे हेमचन्द्राचार्य जैसे प्रतापी नही थे। इसीलिए वे विषमता के सामने टिक नही सके। विषमता बढती जा रही थी इतने में श्री आनदघनजी दो सो वर्ष पहले हुए। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कितना स्पष्ट खुलासा दिया है। मूर्तिपूजा मे श्रद्धा नही रखने वाले भी काठियावाड मे विचरने वाले साधु साध्वी जी श्रीमद् राजचन्द्रजी के साहित्य मे दिलचस्पी रखते हैं अपने व्याख्यानो में श्रीमद्जी के आत्मसिद्धि शास्त्र का एव अपूर्व अवसर वगैरह साहित्य का उल्लेख करते है मगर श्रीमद्जी ने प्रतिमा के आलबन को भी मान्यता दे रखी थी। साहित्य का लाभ व्यापक दृष्टि से उठाना चाहिये जिससे अपनी दृष्टि का विकास होवे। यह बात विचारने योग्य है।

पहाड़ पर का अग्नि तुरन्त दिखता है मगर पैर नीचे का नहीं दिखता—

सूत्र सिद्धात एव इतिहास से प्रतिमा पूजन की सिद्धि होने पर भी ऐसा लिखना कि मूर्ति पूजक सम्प्रदाय पीछे से निकला और

से भी सिद्ध होता है कि जिन प्रतिमा अनादिकाल से वंदनीय एवं पूजनीय है।

जगत परिवर्तनशील

नास्तिक कहता है कि आत्मा, पुन्य, पाप, परलोक कुछ भी नहीं है तो क्या नास्तिक के कहने मात्र से उन सभी चीजों का लोप हो जायेगा ? वैसे ही करोड़ों वर्ष पहले का ज्वलन्त इतिहास जहां जिन प्रतिमा की साक्षी दे रहा है वहां ऐसा लिखना और बोलना कि प्रतिमा पूजा कुछ वर्षों पहले शुरु हुई है वह तो लाखो करोड़ो वर्ष पहले के ज्वलन्त इतिहास को उल्टाने वरावर है। जिनका स्वय का चार सौ पांच सौ वर्ष पहले का कोई इतिहास नहीं है न तो पाँच सौ वर्ष पहले उनकी परम्परा में हेमचन्द्राचार्य जैसे कोई महान आचार्य हुए है और न तो पांच सौ वर्ष पहले का उनकी परम्परा की पुष्टी करने वाला कोई साहित्य है। जवकि जैन शासन की अविच्छिन्न परम्परा में तो हजारो वर्ष पहले का साहित्य आज भी मौजूद है। उन उन साहित्य की रचना करने वाले पू–भद्रवाहु स्वामी, पू. जिनभद्रगणी क्षमा श्रमण पू–सिद्धसेन दिवाकर, पू–हरिभद्राचार्य पू. मलयगिरि, पू–शीलांकाचार्य, पू–अभयदेवसूरी, पू–हेमचन्द्राचार्य आदि महापुरुष सारे विश्व में विख्यात है और उन सभी महापुरुषो का आज अपने

महान पुण्योदय से साहित्य भी विद्यमान है। उपरोक्त महापुरुषो के समय में भी जिनकी विद्यमानता नही थी वे आज करोडो वर्ष पहले के इतिहास का अपलाप कर रहे है तो उनकी बात पर कैसे विश्वास रखा जा सकता है ?

प्रतिमा छोटी बड़ी का सवाल नहीं आखिर वह प्रतीक किसका है ? इतना ही सोचने का है।

ऐसी भी दलील दी जाती है कि भगवान ऋषभदेवजी की काया ५०० धनुष्य प्रमाण थी जबकि शत्रुंजय पर रायण वृक्ष के नीचे उनके चरण इतने लघु कैसे हो सकते है ? नेमनाथ भगवान की काया दश धनुष्य प्रमाण थी उनके चरण गिरनारजी के पहाड पर सहमावन में है मगर उनके शरीर के प्रमाण जितने नही है। शरीर के अनुसार चरण होने चाहिए न ? ऐसी दलील पेश करने वालो को इतना तो ख्याल रखना चाहिये की ज्यो ज्यो काल व्यतीत होता जाता है त्यो त्यो जगत के भावो मे परिवर्तन आता ही रहता है। परमात्मा की प्रतिमा एव चरण कितने भी लघु क्यो न हो मगर भजने वाले तो उनको परमात्म स्वरूप समझ कर ही भजते है। बडे छोटे का सवाल ही नही है अन्त में वह प्रतीक किसका है इतना सोचने का है। ऋषभदेव भगवान के समय में साधु जो रजोहरण रखते होंगे वह उनके शरीर के प्रमाण मे ही रखते होंगे। इस काल के साधु अपने शरीर प्रमाण रजोहरण

रखते है तो उसको भी पवित्र ही माना जायगा। भगवान ऋषभ देव की काया ५०० धनुष्य प्रमाण थी और महावीर भगवान की काया सात हाथ प्रमाण मानी गई है तो क्या दोनों का तीर्थंकर पद समान नहीं माना जायगा ? अवश्य माना जायगा वैसे ही प्रतिमा छोटी होने पर भी वह पूजनीक ही मानी जायेगी जैसे एक छोटा सा नकशा क्या सारे देश का परिचय नही दे शक्ता है- अवश्य दे शक्ता है वैसे ही परमात्मा की छोटी सी प्रतिमा परमात्म स्वरुप का अवश्य परिचय दे शक्ती है।

हृदयका भाव तोडनाबहुत बड़ादोष

भारत देश में मूर्ति पूजा के मूल इतनी गहराई में गये हुए हैं कि कितना भी विरोध होने पर लाखो करोड़ो मनुष्य अपने-अपने इष्ट देव की श्रद्धा, भक्ति से उपासना करते ही रहे है और करते ही रहेगें। मूर्तिपूजा में श्रद्धा नहीं रखने वाले भी हजारो लाखो मनुष्य तीर्थ करने के लिए जाते है और अट्ठाई आदि तप करते हैं तव जिन मंदिरों मे लड्डू चढ़ाने को आते जाते रहते है। मूर्तिपूजा के प्रति लोगों में श्रद्धा का भाव वढ़ता जा रहा है। हृदय का जो भाव है वह महान किमतीं है किसी के भी हृदय के भाव को कभी नहीं तोड़ना चाहिये। मुसलमानों का जव युग था तव मंदिर और मूर्तियां उन्होने तोड़ी थी मगर किसी के हृदय की भावना को तोड़ना वह तो वहुत वड़ा भारी दोष है। प्रतिज्ञा देना तो जुआ, शिकार चोरी, परस्त्रीगमन, वेश्यागमन आदि महाव्यसन त्याग

करने की देना अथवा रात्री भोजन त्याग व्यवहार में अनीति, अन्याय, सिनेमा त्याग आदि की प्रतिज्ञा देना उसके बदले मंदिर नही जाना, इसमे तो बड़ा दोष है, सभी दोषों का प्रायश्चित होगा मगर मन्दिर जाकर पूजा करने मे जो दोष लगता है उसका तो प्रायश्चित्त ही नही होगा। यह विचार शून्य प्रलाप नही तो क्या है जैसे कोई सुपात्र मे दान देता हो, अध्ययन करता हो, उसमें अन्तराय डालने से अन्तराय कर्म का बन्ध होता है वैसे ही जिन पूजा मे अ तराय डालने मे अन्तराय कर्म का बन्ध होता है ऐसा पू-देवेन्द्रसूरीजी ने ८०० वर्ष पहले स्वरचित कर्म ग्रन्थप्रकरण मे लिखा है।

जीवनका अपूर्व विज्ञान

पू-आनदघनजी ने तीन सो वर्ष पहले के स्वरचित स्तवन म लिखा है—

चित्त प्रसन्ने रे पूजना फल कह्यु रे
पूजा अखडित एह
कपट रहित थई आतम अर्पणा रे
आनदघन पद रेह"।

चित्त की प्रसन्नता पूजा का वास्तविक फल है। जिनराज की अष्टप्रकारी पूजा करने के समय चित्त में जो प्रसन्नता का भाव एव आह्लाद उत्पन्न होता है वह तो उसका अनुभव करने वाला ही जान सकता है। मानसिक प्रसन्नता ही जीवन का अपूर्व

विज्ञान है। प्रसन्नता का फल मानसिक समाधि है, समाधि का फल वीतरागता है, वीतरागता का फल केवल ज्ञान है और केवल ज्ञान का फल मोक्ष है। कितने ही कहते हैं कि जिनपूजा से यदि मोक्ष हो सकता है तो तप, जप, और संयम की क्या जरुरत है? पूजा से ही मोक्ष मिलता हो तो इतना कष्ट कौन करेगा? तप संयम का किसी ने निषेध नहीं किया है वह भी आखिर परमात्मा की भावपूजा स्वरुप है। द्रव्य पूजा और भावपूजा दोनों का मिलन या संगम करना ही सोने में सुगंध स्वरुप है। भावपूजा के लक्ष्यपूर्वक जो द्रव्य पूजा की जाती है वही वास्तविक द्रव्यपूजा है। आखिर तो परमात्मा की आज्ञा की परिपालना वही वास्तविक पूजा है अथवा परमात्मा ने प्ररुपण किये हुए सत्य, अहिंसा, नीति, न्याय, अपरिग्रह, क्षमा, नम्रता, संतोषादि सिद्धांतों का शक्ति अनुसार पालन करना ही परमातना की वास्तविक पूजा है मगर वह भाव-पूजा है और द्रव्यपूजा का आलंबन लिए बिना भाव प्रगट होना वहुत कठिन है इसलिए राजमार्ग यही है कि द्रव्य तथा भाव दोनों का मिलन करके परमात्मा की उपासना की जाय। यही जैन मार्ग का परमसार है।

तलवारकी धार सोहिनी मगर चरणोकी सेवा दोहिली

पू-ग्रानदघनजी महाराज ने फरमाया है की—

धार तरवारनी सोहिली दोहिली
चौदमा जिन तणी चरण सेवा
धार पर नाचता देख वाजी गरा
सेवना धार पर रहे न देवा

तलवार की धार पर से गुजरना ग्रासान है मगर देवाधिदेव के चरणो की सेवा ग्रति मुश्केल है याने तलवार की धार सोहिली है मगर सेवा ग्रति दोहिली है-वह सेवा कोनसी बस इतना ही विचारने का है।

ग्राज कल जिन मदिरो मे जहा देखो वहा न्हाने धोने की व्यवस्था होती है-केशर चदन धूप दीप वगेरे ग्रष्ट प्रकारी पूजा की सामग्री भी वहुत से जिन मदिरो मे होती है-ग्रव वताइए मदिर मे जाके पूजा करने वालो को क्या मुश्केली है-तव भी ग्रानदघनजी ने चरण सेवा को इतनी दोहिली क्यो वताइ है-इस वात का रहस्य ग्रवश्य समझना चाहिए।

भगवान की ग्राज्ञा का पालन करना हो परमात्मा की वास्तविक भावपूजा है-ग्रोर द्रव्य पूजा भी ग्रपने घर के उत्तम द्रव्यो से करनी चाइए द्रव्य शुद्धि ही भाव शुद्धि मे कारण वनती है भगवान ने फरमाया है हिंसा नही करना, ग्रसत्य नही वोलना,

चोरी नही करना, व्यापार में मिलावट नही करना, पर स्त्री को माता समान गीनना अधिक परिग्रह को पाप की जड समजना सूर्यास्त के बाद रात्री भोजन नही करना मांस मद्य जमी कंदादि अभक्ष का भक्षण नही करना एवं दारु भांग वगेरे अपेय का पान नही करना जूआ शिकार वेश्यागमन पर स्त्री गमन वगेरे सप्त महाव्यसन का सेवन नही करना यह सब भगवान की आज्ञाए है– इनका पालनही भगवानकी भावपूजा है एक छोटी सी बात आप ध्यान में लीजिए की भगवान ने फरमाया है कि गृहस्थ को व्यापार करना पड़े तो नीति न्याय से करे क्योकी नीति न्याय ही धार्मिक जीवन की नीव है इस आज्ञा का पालन भी मनुष्य को कीतना कठीन महसूस होता हैं अब तो आप समज गये होंगे की चरणो की सेवा कीतनी मुश्केल है।

मानवी कितनी ही धर्म क्रियाए करे व्रत पच्चक्खाणादिभी करता रहे मगर जब तक नीति न्याय प्रमाणीकता एवं सत्य अहिंसा का जीवन में पालन नही होता है तब तक धार्मिक जीवन देदीत्य-मान नही बनता हैं वैसे मनुष्यो के कारण धर्मशासन की प्रभावना होने के बदले हेलनाभी हो शक्ती है धार्मिक जीवन की सफलता के लीए अरिहंत परमात्मा का जो उपदेश है और उनकी जो आज्ञाए है उन उन आज्ञाओ का अभ्यास करने पूर्वक जीवन में आचरण करना अत्यंत जरुरी है।

महाभारत मे एकलव्य भील का दृष्टांत विख्यात है। वह द्रोणाचार्य के पास धनुर्विद्या सीखने गया था मगर द्रोणाचार्य नें उसको विद्या नही सिखलाई। परन्तु उस भील का उत्साह ज्यों का त्यों बना रहा और उसने जगल मे जाकर द्रोणाचार्य के स्वरुप जैसी प्रतिमा बनाई और उस प्रतिकृति के सामने उसने अध्ययन शुरु किया आखिर वह महान धनुर्धर बन गया। वैसे ही श्रद्धा एव भक्ति से जिनेश्वर को भजने वाला जीव भी आखिर जिनेश्वर बन सकता है। जहा श्रद्धा का अपूर्व बल हे वहा प्रतिमा मे परमात्म स्वरुप का दर्शन हुए बिना रहेगा नही ? और उसको भाव मे भजने वाला उसी स्वरुप को प्राप्त करेगा, करेगा और अवश्य करेगा ?

राजा रावण का वृतान्त

राजा रावण ने भी जिन प्रतिमा का पूजन किया है। रावण की लका नगरी मे शान्तिनाथ भगवान का भव्य मन्दिर था। ऐसा उल्लेख पू-विमलसूरीजी ने उन्नीससो वर्ष पहले लिखे "पउमचरीय" ग्रन्थ मे किया है और कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी ने "त्रिषष्टिशलाकापुरुष" चरित्र मे किया है। रावण जब किसी भी काम के लिए नगरी के बहार जाता था तब अपने पुष्पक विमान में भगवान अरिहत परमात्मा की प्रतिमा साथ म रखता था।

अ तरिक्ष पार्श्वनाथ तीर्थ जो सारे भारत मे प्रसिद्ध ह जहा पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिमा जमीन से अधर रही हुई है। जिन

प्रतिमा का आज भी कितना अपूर्व प्रभाव है- वह देखना हो तो अंतरीक्षजी तीर्थ की यात्रा जरुर कर लेना ? आज भी वह प्रतिमा के नीचे से अंग लूछने का वस्त्र निकलता है। उस प्रतिमा की पूजा राजा रावण ने की थी। यह भी एक शास्त्रीय एवं ऐतिहासिक अभूतपूर्व घटना है। लाखों वर्ष व्यतीत होने के बाद भी आज तक अंतरिक्ष पार्श्वनाथ प्रभू की प्रतिमा टीकी हुई है। यह देवताई प्रभाव नहीं तो और क्या है ?

राजा रावण और उसकी पटराणी मंदोदरी अष्टापद तीर्थ की यात्रा को पहुंचे है। वहां मंदिर में भगवान के समक्ष मंदोदरी नृत्य कर रही है और राजा रावण वीणा बजा रहा है इतने में वीणा का तार टूट गया। राजा रावण ने हाथ में से अपनी नस निकाल कर तार को जोड़ दिया मगर भक्ति मे भंग नहीं पड़ने दिया। वहीं राजा रावण ने तीर्थंकर गोत्र बांध लिया। यह है अरिहंत परमात्मा की भक्ति का अपूर्व प्रभाव। हृदय में यदि अरिहंत परमात्मा की भक्ति का स्थान है तो उसको मुक्ति तक की चिन्ता रखने की जरुरत नही है क्योंकि भक्ति ही आखिर लोह चुम्बक की तरह मुक्ति को खींच कर ले आती है।

महान आदर्शको अनुसरनेमें दिक्कत क्या ?

भगवान का जन्म कल्याणक होता है तब इन्द्रादिदेव भगवान को मेरुगिरि पर ले जा कर क्षीरादी जल से अभिषेक करते हुए

बडी धूम-धाम से जन्म महोत्सव मनाते है। भगवान का जन्म सामान्य कक्षा के मानवी का जन्म नही है। भगवान के जन्म को जन्म कल्याणक कहा जाता है। भगवान का जन्म सभी जीवो के कल्याण के लिए होता है। इसलिए उनके जन्म को जन्म कल्याणक कहना बिलकुल सही अर्थ मे है। उन लोकोत्तर महा पुरुषो के पाचो कल्याणको को देव देवेन्द्र भी बडी ही धूम-धाम से मनाते है। तो फिर मनुष्य मनाते उसमे कौनसी नई बात है। देवेन्द्रादि तीर्थ कर भगवतो के पाचो कल्याणक मनाते है उसी महान आदर्श को नजर समक्ष रख के इस काल में जिनमदिरो में प्रतिष्ठा एव अ जन शलाका के प्रसग पर जन्म कल्याणक आदि पाचो कल्याणक मनाये जाते हो तो उसमे गलत क्या है ? वह भी एक प्रकार का अपूर्व भक्ति योग का ही मार्ग है। ऐसे प्रसग मनाने का लाभ महान पुन्योदय से मिलता है। वस्तुस्थिति यो होने पर भी स्थानकवासी सप्रदाय के किसी एक साध्वीजी ने अपनी गुजराती पुस्तक में लिखा है कि 'भगवाननो जन्म करावे, भगवान-ना माता पिता बने इन्द्र अने इन्द्राणिओ बने मानव भवमा देव बनवाना लावा ले, अजन्मा बनी गयेला प्रभुनो फरी-फरी जन्म करावे। माता ने स्वप्न आवे हाथी जोयो तो बोले हा। हाथी जोयो शु हाथी जोवे हाजेज गावे छे पेटी मा र मुके नेने गर्भ माने। जन्म करावे अने जन्म थता सीमोटी वगाडे। जन्म ना वधामणा आपे अने इन्द्रो महोत्सव उजवे, देव होय ते धरती पर

चाले, तेने परसेवा वले,मोढ़ा तो काला काला होय अने देव वनावे, आवा खोटा नाटक भजवे, रंग राग मां अने इन्द्रिय ना विषय ने पोषवा मां धर्म न थी। लौकिक लोकोत्तर मिथ्यात्व मां थी मुक्त वनी धर्म ना साचा स्वरुप ने समझो"।

अंजनशलाका के प्रसंग पर जो जन्म कल्याणक मनाया जाता है उस पवित्र प्रसंग के लिए उपरोक्त विवेचन में साध्वीजी ने भाषा प्रयोग करने में मर्यादा तक नही रखी है। जन्म कल्याणक जैसे प्रसंग की नाटक के साथ तुलना की है। दृष्टि मे जहां विपरीतता रहती है वहां ऐसा ही शब्द प्रयोग होने वाला है।—"मोढ़ा तो जाणे काला काला होय अनेदेव वनावे" ऐसा लिखने मे भाषा समिति का उपयोग ही कहां रखा है। खुद नेमनाथजी का वर्ण श्याय था। कई देव भी श्याय वर्ण वाले होते है। कोई गोरा होवे कि काला होवे प्रभु भक्ति का लाभ लेने मे गौर वर्ण के श्याम वर्ण का सवाल ही नहीं रहता है-जिसका अंतःकरण शुद्ध हे उसी को अपूर्व लाभ मिलने वाला है।

भगवान का जन्म कल्याणक मनाने वाले अच्छी तरह से जानते है कि भगवान अजन्मा स्थिति को प्राप्त हो चूके है। वे कभी जन्म मरण के चक्कर में आने वाले नहीं हैं। तव भी भक्तजन जो जन्मकल्याणक आदि मनाते है वह भक्ति योग का अपूर्व लाभ समझ कर मनाते है। उसमें इन्द्रियो के विषय अथवा

रा राग पोपने की कोई वात ही नहीं होनी है। उस समय तो भक्त जन आनद विभो वन के महोत्सव मनाते है और प्रभुभक्ति मे इतने लीन वन जाते है मारे दुन्यवी वातावरण मे मन परिणाम दू हो जाते है। ऐसे भव्यातिभव्य धार्मिक प्रसग मनाने का जिनको सौभाग्य ही जीवन मे प्राप्त नही हुआ है शायद उन्ही के मन विषय कषाय रुप दूषित भावो मे कलुषित रहते होवेंगे ?

इस काल मे ही अजन शलाकादि प्रसग मनाये जा रहे है। ऐसी कोई बात नही है पूर्व काल मे भी राजा सप्रति, राजा कुमार पाल, विमलशाह मत्री, वस्तुपाल, तेजपाल, पेथडशाह मत्री जैसे महापुरुषो ने महान दशपूर्वधर आर्य सुहस्ति जैसे महान आचार्य भगवतो की निश्रामे अथवा जिस समय जो-जो महापुरुष विद्यमान थे उन महापुरुषो की निश्रामे ऐसे धार्मिक प्रसग कई बार मनाये थे। अजन शलाका अथवा प्रतिष्ठा महोत्सव मनाने की परपरा अर्वाचीन नही मगर अति प्राचीन परपरा है।

भक्ति निमित्त वैल के स्वरुप की विकूर्वणा

वीतरागदेव और निर्ग थ पचमहाव्रतधारी गुरुओ को सासारिक सुख की बुद्धि से भजना यह देवगत अथवा गुरुगत लोकोत्तर मिथ्यात्व कहा जाता है। पच कल्याणक महोत्सव मनाना उनमे किसी प्रकार के मिथ्यात्व का दोष नही लगता है वल्कि सम्यक्त्व गुण की पुष्टी होती है। देव धरती पर चलते

नहीं है उनके पैर धरती से चार अंगूल ऊपर रहते है, देवों को पसीना नहीं होता है तथा उनके गले की माला मुर्झाती नहीं है यह बात तो थोड़ा सा भी जिनको धर्म का ज्ञान है उनके ध्यान में है ही ? मगर भगवान के जन्म समय इन्द्र जब भगवान को मेरु पर्वत पर ले जाते है तब वहां अभिषेक करने के समय इन्द्र एक साथ चार बैलों के स्वरुप की विकुर्वणा करके आठ शृंग के द्वारा भगवान का अभिषेक करते है। यह बात कल्पसूत्र की टीका में लिखी हुई है एवं त्रिषष्टिशलाका चरित्र में कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी ने भी लिखी है। भगवान की भक्ति निमित्त इन्द्र जब जानवर का स्वरुप धारण कर लेते है तो फिर, मनुष्य परमात्मा की भक्ति के निमित्त यदि देव अथवा इन्द्र–इन्द्राणी का स्वरुप धारण करे तो उनके पीछे परमात्मा की भक्ति सिवाय दूसरा कोई खराब आशय नही हैं। जब भीतर का आशय शुद्ध है वैसे महोत्सव मनाने से सम्यक्त्व गुण की पुष्टी होती है उसमें मिथ्याव के दोष की कल्पना करना ही कल्पनातीत है।

स्थानकवासी सौराष्ट्र लीवड़ी संप्रदाय के साध्वीजी लीलाबाई महासती के व्याख्यानों का संग्रह अनाथिनिर्ग्रन्थ नामक पुस्तक बारह तेरह वर्ष पहले प्रकाशित हुई थी। उस पुस्तक के दूसरे भाग मे ४९४ के पेंज पर उन्होंने जन्म कल्याणक के प्रसंग पर आलोचना की है जिसका उपरोक्त विवेचन में स्पष्ट प्रत्युत्तर दे दिया गया है।

[illegible] ने 'कृपाकुंज' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है। उस पुस्तक में श्री उज्ज्वल कुमारीजी के व्याख्यानों का संग्रह किया गया है उस पुस्तक में ४०० पेज पर उन्होंने विवेचन किया है कि–
"पुष्प पांखडी ज्यां दुभाय जिनवर नो त्यां नहीं आज्ञाय"

[illegible] पण भगवाने [illegible] प्राण लूटी लेवो धर्म प्ररूप्यो नथी। माटे जो [illegible] छे के भाव चढे छे तेटले भक्ति भाव मां पणे [illegible] हिंसा [illegible] नहीं [illegible] निर्जरा थाय छे पण हिंसा थी निर्जरा नथी थवानी छे। भाव उपज्यो होय तो पागला [illegible] ने वंदन चढावना नथी ?

इस पुस्तक में सम्पूर्ण विवेचन गुजराती भाषा में है इसलिए मैंने भी उन्हीं के शब्द बराबर लिख दिये हैं। एक महाज्ञानधारी साध्वीजी ने यह शब्द प्रयोग ठीक नहीं किया है। भगवान की पूजा में फूल क्यों चढाते है ? तुमको भगवान के प्रति भक्ति का भाव है तो तुम्हारी [illegible] क्यों नहीं चढाते हो ? शब्द शब्द में [illegible] है। एक शब्द जीवन सजीवनी का काम करता है और दूसरा शब्द कुल्हाडी के प्रहार का काम करता है [illegible]

चाहिये। लिखने में अथवा वोलने में सुमधुर शब्द का प्रयोग होता है तो वह बात किसी के भी दिमाग में वैठ जाती है। कटु वचन से सारी बात का रहस्य चला जाता है इसलिए साध्वीजी ने ऐसा शब्द प्रयोग किया होता कि अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, क्षमा, नम्रता रुपी भाव-पुष्प परमात्मा को चढ़ाओ और आखिर द्रव्य पूजा करने वालों का ध्येय भावपूजा का ही रहता है। ऐसा शब्द प्रयोग कितना अच्छा लगता ? शब्द ही शब्द ब्रह्म कहलाता है। गांवो गांव में जो जिन मंदिर है और शत्रुंजय, गीरनार जैसे जो महान तीर्थ है वे तो भव समुद्र मे साक्षात नौका समान है। ऐसे भवोदधितारक आलंवनों का लोप करने की विपरित बुद्धि किसी स्वप्न मे भी न होवे ? शत्रुंजय तीर्थ के लिए महापुरुषों ने फरमाया है कि—

"पापी अभव्य नजरे न देखे
हिंसक पण उद्धरिए
शत्रुंजयगिरि यात्रा नव्वाणु करीए"।

करीवन डेढ़ सौ वर्ष पहले पू-पदमविजयजी ने यह गाथा स्तवन में फरमाई है-पापी और अभविजीव शत्रुंजय गिरिराज को नजर से भी नही निहाल या देख सकते है और निहाले तो तो न्याल हो जावे के ? भारे कर्मी जीव गिरीराज शत्रुंजय को नजरे

नही निहाल मकते है तो भावपूर्वक स्पर्शन करने की तो बात ही कहा रहती है ?

विसंवाद का मूल कारण

कई मनुष्यो को सदेह हुआ करता है कि मूर्ति-पूजा बिलकुल शास्त्र मान्य होने पर भी इतना विसंवाद क्यो खडा हुआ ? इसका प्रत्युत्तर यह है कि जैन सप्रदायो मे कुछ सप्रदाय वाले सिर्फ मूल सूत्र ही मानते है-मगर निर्युक्ति, भाष्यचूर्णि और टीका वगेरे पचागी को मान्य नही रखते है। पचागी बिलकुल मान्य करने योग्य है। भाष्य टीका चूर्णि मान्य किये बिना सूत्रो का सत्य अर्थ समझ मे आना बहुत मुश्किल है। अपनी स्वतत्रमति से सूत्रो का अर्थ लगाने से ही यह सारा विसंवाद खडा हुआ है।

पू-आनदघनजी ने नमीनाथ भगवान के स्तवन मे लिखा है कि-

"चूर्णि भाष्य सूत्र निर्युक्ति,
वृत्ति परपर अनुभव रे।
समय पुरुष ना अग कह्या ते,
जे छेदे ते दुर्भव रे॥"

चूर्णि, भाष्य, निर्युक्ति वृत्ति और सूत्र ये पाचो आगम रूपी पुरुष के अ ग है। इसमे से किसी का भी विच्छेद नही कर सकते

है जो वहुल संसारी है। इस एक गाथा में तो पू-योगीराज आनंदघनजी नेजैन शासन की अविच्छिन्न परम्परा को मानो प्रकाशित कर दिया है।

पंचांगी प्रमाण नहीं रखने वाले भी आज अपने अपने सम्प्रदायों में चल रहे शास्त्रोद्धारादि के कार्यों में टीका चूर्णि भाष्य और निर्युक्ति का उपयोग करते है। अजब गजब की बात तो यह है कि भाष्य और टीकाए देखने पर भी मूल मार्ग का उन्हे ज्ञान नहीं हो रहा है अपनी आवश्यकतानुसार चीज उसमे से निकाल लेते है और आखिर अपनी ही वोलवाला करते रहते है। टीका चूर्णि और भाष्य लिखने वाले कौन महापुरुष थे ? इतना ही ख्याल किया होता तो उनका भ्रम जरूर दूर हो जाता और मूल मार्ग पर आने का उनका मनोरथ दृढ़ हो जाता।

उनका भ्रम दूर होवे कैसे ? सूत्रों का अर्थ विठाने के लिए एक बाजु महापुरुषों की टीका चूर्णि का आलंवन जरुर लेते है और दूसरी बाजु पूज्यपाद नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरी, पू-कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य जैसे महापुरुषों की समालोचना करने को भी तैयार हो जाते है। कौन अपेक्षा से उन महापुरुषों ने अर्थ घटना की है इतना भी यदि विवेक नहीं रखा जा सकता है तो फिर टीकाओं का आलंवन लेने का अर्थ क्या है ? कोई आगे पीछे का सम्बन्ध समझ में न आवे तो गीतार्थ आचार्यो के पास जाकर अर्थ

समझना चाहिये। उसके बदले केवल अपनी बुद्धि ही चलाना और लिख देना कि टीकाकार अभयदेवसूरी ने जो यह बात लिखी है वह मूल सूत्र से विपरीत है। अब महान प्रमाणिक पुरुष के लिये ऐसा लिखना वह एक प्रकार का दु साहस नही तो और क्या है? लिखना ही होवे तो ऐसा लिखना चाहिये कि टीकाकार महापुरुष अत्यन्त भव भीरु एव प्रमाणिक महापुरुष है उन्होंने इस सूत्र की व्याख्या इस तरह लिखी है मगर हमको यह बात दिमाग मे इस तरह मे बैठती है- "तत्व केवली नो विदति"— टीकाकार स्वय अपनी लघुता भले कितनी ही दर्शावे मगर अपने मुकाबले तो वे महाज्ञानी महापुरुष थे इसलिए अपना कर्त्तव्य तो उनका अनत उपकार मानने का है।

स्थानकवासी सम्प्रदाय के 'साधुमार्गी जैन सस्कृति रक्षक सघ" की ओर से भगवतीसूत्र का भाषानुवाद हुआ है। उसमे पू-अभयदेव सूरी की टीका का आलबन लिया तो अवश्य है? मगर उसकी प्रस्तावना मे सैलाना वाले 'रतनलालजी डोसी' ने पू-अभयदेवसूरी की समालोचना की है। वैसे ही वे तीर्थ करादि महापुरुषो के चरित्र लिख रहे है। वह साहित्य उन सम्प्रदाय के पास तो है नही इसलिए आखिर हेमचन्द्राचार्यजी के त्रिशष्टी शलाका पुरुष चरित्र का ही उनको आलबन लेना पड रहा है। उसमें भी पू-कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी का अनत उपकार मानना तो कही रहा? और टीका टिप्पणी मे उतर पडे है । वे

कहते है कि हेमचन्द्राचार्य की लिखी हुई यह बात मूल सूत्र से मिलती नहीं है मानों मूल सूत्रों के ज्ञान का ठेका इन्होंने ही ले रखा हो ? अरे ? भाई कहा आज अपना क्षयोपशम कहां कलिकाल सर्वज्ञ का क्षयोपशम ? जिनका आलंबन ले रहे हो कम से कम उनका बहुमान तो करो ? बस उन्हीं की भूल निकालने को बैठ गये तो पहले उनकी योग्यता प्राप्त करो ? जिनको सभी आगम कंठस्थ थे उन महापुरुषों का आशय समझने को अपने को भव लेना पड़ेगा।

द्रव्यपूजा और भावपूजा दोनों की अत्यन्त उपयोगिता

पूज्य-आनंदघनजी ने नवमे सुविधिनाथ भगवान के स्तवन में अष्टप्रकारी द्रव्यपूजा और भावपूजा की विस्तार से विधि बतलाई है। भगवान की स्तवना करते हुए फरमाया है कि—

"सुविधिजिनेश्वर पाय नमी ने, शुभ करणी एम कीजे रे,
अति घणो उलट अँग धरी ने, प्रह उठी पूजी जे रे" ॥

सुविधि नाथ भगवान के चरणों में नमन करके इस प्रकार शुभ करणी करने की है और अत्यन्त उल्लासपूर्वक सुबह में उठकर परमात्मा का पूजन करना।

माला वगैरह सचित द्रव्यों का त्याग करके मंदिर में प्रवेश करना। परमात्मा की पूजा के लिए पुष्प वगैरह जो द्रव्य लिए हो उसका परित्याग नहीं करने का है। अपने उपभोग के लिए जो द्रव्य लिए हो उसका त्याग करके मंदिर में प्रवेश करना यह पहला अभिगम है। दूसरा अभिगम है मन की एकाग्रता रखना। तीसरा अभिगम है अखंड उत्तरासंग करना। चौथा अभिगम है प्रभु मूर्ति पर दृष्टि पड़ते ही दोनो हाथो को अंजलीवद्ध करके प्रणाम करना। पांचमा अभिगम है कि अचित्त का त्याग नहीं करने का होता है तव भी कोई राजा दर्शन को आया हो तो उसको तलवार, छत्र, चामर, मुकुट, मोजड़ी आदि अचित द्रव्य होने पर भी उनका त्याग करके मंदिर जी में प्रवेश करने का है। इस प्रकार दश त्रिक और पांच अभिगम का संक्षेप में सिर्फ निर्देश मात्र दिया है इसका पालन किये बिना मन प्रभु भक्ति में एकाग्र नही हो सकता है।

"कुसुम अक्षत वरवास सुगंधीधूप दीप मन साखी रे।
अंग पूजा पण भेद सुणी इम,गुरुमुख आगम भाखी रे।।"

पुष्प, अक्षत (चावल), अत्यन्त सुगन्धयुक्त वासक्षेप, दशांग धूप, दीपक वगैरह अंग और अग्रपूजा के प्रकार सुनने में आया है। पू-गुरु महाराज ने आगम की साक्षी से इन प्रकारों का श्रवण कराया है।

"तेहनु फल दोय भेद सुणीजे, अनतर ने परपर रे।
आणा पालन चित्त प्रसन्नो, मुगति मुगति सुर मदिर रे॥"
सुविधि

ऊपर में बतलाई गई पूजा का फल दो प्रकार का है—अनतर और परपर। परमात्मा की आज्ञा का पालन और चित्त की प्रसन्नता रूप जो फल है वह अनतर फल है और आखिर मोक्षपद की प्राप्ति और जब तक मोक्ष प्राप्त न हो तब तक बीच में देव और मनुष्य भव रूप सुगति की जो प्राप्ति है वह है परपर फल। कितना पूजा का महान फल बताया है? तुरत जो फल मिल जाय वह अनतर और उत्तरोत्तर कुछ समय के बाद जो फल मिले वह परपर। इस गाथा का अभ्यास करने के बाद कौन पूजा के लाभ से वचित रहेगा? पूजन करके मनुष्य जब मदिर से बहार निकलता है तब उसके मन परिणाम इतने सुप्रसन्न होते है कि जिसका शब्दो में वर्णन नहीं किया जा सकता है। महात्मा पुरुषो ने लिखा है कि—

"जिन ही पाया तिन ही छिपाया
न कहे कोउ के कान मे
ताली लागी जब अनुभव की
तब जानत कोउ सान मे—
हम मगन भये प्रभु ध्यान मे"॥

केवल ज्ञानी भगवंतो ने उत्तराध्ययन सूत्र मे फरमाया है इस गाथा का रहस्य अति गंभीर है तव भी अल्प क्षयोपशमानुसार लिखने की कोशीश की है। गीतार्थ महापुरुषों के पास जरुर इस गाथा का रहस्य विचार लेवें।

"इम पूजाना बहु भेद सूणी ने सुखदायक
शुभ करणी रे"।
"भविक जीव करसे ते लेसे
आनंदघनपद धरणी रे"।।

इस प्रकार से पूजा के भेदों का श्रवण करके सुखदायक पूजा रूप शुभ करणी को जो भी भवी जीव करते रहेगें। वे आखिर आनंदघन स्वरुप मोक्ष पद को प्राप्त करेगें।

इस सुविधिनाथ भगवान के स्तवन मे पू-आनंदघनजी ने द्रव्यं एवं भावपूजा का रहस्यमय स्वरुप वताया है। मूर्ति-पूजा में श्रद्धा नहीं रखने वाले भी कितने ही पू-आनंदघनजी के व्यक्तित्व में श्रद्धा रखते है और वे आनंदघनजी के स्तवनों पर दिवेचन भी देते है क्योंकि आनंदघनजी ने चोवीशो भगवान के गंभीर अर्थ वाले स्तवन लिखे है मगर वे सुविधिनाथ भगवान के स्तवन पर ध्यान या जोर नहीं लगाते है क्योंकि इस पर जोर लगायेगें तो मूर्तिपूजा के विरुद्ध बोल ही नहीं सकेगें मगर महापुरुषों के प्रति

वास्तविक श्रद्धा भक्ति उसी को कहते है कि उनके सभी दृष्टी बिन्दुओ को लक्ष्य मे लिये जाय। आनदघनजी जैसे महान पुरुष भी मूर्ति पूजा के प्रखर हिमायती रहे है। अपने स्वरचित स्तवनो में उन्होने मूर्तिपूजा पर काफी बल दिया है। जिसको भी मूर्तिपूजा मे सदेह रहता हो वे पू–आनदघनजी महाराज के नवमे सुविधिनाथ भगवान के स्तवन पर ही चिंतन मनन कर लेगें तो उनका सदेह अपने आप दूर हो जायगा।

कोई मनुष्य केवल द्रव्य पूजा एव द्रव्य क्रिया मे ही न अटक जाय इसलिए श्रेयासनाथ भगवान के स्तवन मे आनदघनजी ने फरमाया है कि—

"नाम अध्यातम द्रव्य अध्यातम
ठवण अध्यातम छडोरे।
भाव अध्यातम निजगुण साधे
तो तेह शु रट मडोरे॥"

भाव अध्यातम निजगुण को प्रगट करने वाले है इसलिए भाव अध्यातम मे ही रट लगा दो। नाम अध्यातम द्रव्य अध्यातम और स्थापना अध्यातम ये तीनो भाव अध्यातम के साधन रूप जरूर है

मगर साधन मे ही साधक अटक न जाय इसलिए स्तवन में फरमाया है कि नाम अध्यातम, द्रव्य अध्यातम और स्थापना अध्यातम छंडो और भाव अध्यातम से ही रढमंडों याने रढ या प्रीति लगाओ। जब तक नौका किनारे नहीं पहुंची है तब तक तो उसका सहरा लेना ही होगा यदि किनारे पहुंचने के पहले ही नौका का आलंबन छोड़ दिया तो मजधार में ही रह जायेगें। किनारा आने के बाद तो नौका का आलंबन छोड़ना नही पड़ेगा बल्कि अपने आप छूट जायेगा वैसे ही साध्य की सिद्धि होने के बाद साधन अपने आप छूटते जाते है छोड़ने नहीं पड़ते है।

जैसे श्रावक को अष्टप्रकारी पूजा करने का विधान है मगर वही श्रावक जब पंचमहाव्रतधारी साधु बनता है तब अष्ट प्रकारी पूजा का आलंबन छूट जाता है सिर्फ भावपूजा का ही आलबन लेने का रहता है।

दर्दो को दवाई की जरुरत

ससारी जीव विषय कषाय रुपी दर्द से घीरे हुए है उनको द्रव्यपूजा रुपी दवाई की अत्यन्त आवश्यकता है विषय कषाय रुपी व्याधि से साधु बहुत कुछ अंश में मुक्त बने हुए है। दर्द से मुक्त होने से साधु महापुरुषों को द्रव्य पूजा रुपी दवाई की जरुरत नहीं रहती है तब भी मोक्ष रुपी भाव आरोग्य की प्राप्ति के लिए भाव पूजा तो उनको भी अवश्य करनी चाहिये। वैसे ही श्रावक

श्राविका भी जब उपधानादि क्रिया मे पोषध व्रत मे रहते है तब उनको भी सिर्फ भावपूजा करने की होती हे।

द्रव्यते भाव निमित्त

पू–आनंदघनजी ने उपरोक्त गाथा मे लाल बत्ती दिखलाई है। कही साधन मे ही अटक नही जाना साधन जरुर करना मगर साध्य का लक्ष छोडना नही। पूज्य–आनंदघनजी के वचन अर्थ गभीर होते है उसका रहस्य नहीं समझने वाले उपरोक्त गाथा को आगे करके स्थापना निक्षेप का लोप करने लग जाते है। आनंदघनजी ने फरमाया है कि "नाम अध्यातम द्रव्य अध्यातम ठवण अध्यातम छडो।" मगर यह विधान किस हेतु से किया गया है इसका सागोपाग स्पष्टीकरण हमने उपरोक्त विवेचन मे कर दिया हे। उपरोक्त बात को यदि एकात दृष्टि से पकड लिया तो द्रव्य श्रुत का आलबन भी कैसे लिया जायगा ? क्योंकि द्रव्य श्रुत भी तो आखिर अक्षर विन्यास रुप होने से वह भी तो स्थापना रुप है तब भी द्रव्य श्रुत को भाव श्रुत का कारण माना जाता है तो द्रव्य अध्यात्म एव ठवण अध्यात्म को भी भाव अध्यात्म का कारण मानकर भाव अध्यात्म की तरह उनको भी तो मान्य रखना पडेगा ? महापुरुष जो वचन निकालते है उसके पीछे कुछ न कुछ रहस्य रहता ही है। आनंदघनजी जैसे महापुरुष ने निश्चय दृष्टि का कोई वचन उच्चारा हो तो उस वचन को एकात दृष्टि से

नहीं पकड़ना चाहिये वलिक आगे पीछे का भी विचार करना चाहिये। उन्ही महापुरुष ने सुविधिनाथ भगवान के स्तवन मे द्रव्य पूजा एवं स्थापना निक्षेपा पर कितना जोर लगाया है। वह भी सोचना चाहिये। वह कुछ भी नही सोचना और एकाद कोई वचन अपने मंतव्य के अनुकूल आ गया वस उसी को पकड़ कर वैठ जाना वह कहां का न्याय है ?

महाकल्पसूत्र में मूर्तिपूजा का स्पष्ट पाठ

श्री महाकल्प सूत्र मे साधु आदि जिन मंदिर नहीं जावे तो प्रायश्चित लेने का वताया है। सूत्रकार ने फरमाया है कि—

से "भयवं तहा रूवं समणांवा महाणावा चेइय घरे गच्छेज्जा ? हंता गोयमा दिणे दिणे गच्छेज्जा से भयवं जत्थ दिणे ण गच्छेज्जा तओ किं पायच्छितं हवेज्जा ? गोयमां पमाय पडुच्च तहारूवं समणांवा माहणांवा जो जिणघरं न गच्छेज्जा तओ छठ्ठं अहवा दुवाल समं पायच्छित्तं हवेज्जा।

गौतम स्वामी ने भगवान महावीर प्रभु से प्रश्न किया है कि प्रभु क्या श्रमण अथवा श्रावक को प्रतिदिन जिन मंदिर जाना जरुरी है ? हां ! गौतम श्रमण अथवा श्रावक को प्रतिदिन जिन मंदिर जाना चाहिए। प्रभु ? जिस दिन न जाय उस दिन

उनको क्या प्रायश्चित करना होगा ? गौतम ! प्रमाद के वश जिस दिन श्रमण वा श्रावक जिन मंदिर नही जायेगें उस दिन उनको बेले का अथवा पाच उपवास का भी प्रायश्चित हो सकता है।

दर्शनसे ही दर्शन विशुद्धि

कोई साधु अथवा श्रावक कितना भी दुष्कर तप करे मगर जिन प्रतिमा के दर्शन वदन विना वह तप वास्तविक फलदायक नही बन शक्ता है इतना ही नही उसकी कायक्लेश में भी गणना हो शक्ती है।

तामली तापस ने साठ हजार वर्ष पर्यंत तप कीया तव भी वास्तविक फल प्राप्त नही हुआ क्योंकि दर्शन विशुद्धि का अभाव होने से वह तप अज्ञान पूर्वक का था।

यहा से मृत्यु पाकर ज्यो ही वह ताप स दूसरे इशान देवलोक मे इशानेन्द्र हुआ के वहा सिद्धायतन मे जिन प्रतिमा के दर्शन से तुरत उसको सम्यग् दर्शन का लाभ हुआ। यह है जिन दर्शन का अपूर्व प्रभाव ! जिन दर्शन से दुरित का नाश होता है–वदन से वाछित फल प्राप्त होता है और पूजन से पूर्ण पद की प्राप्ती होती है इसीलीए महापुरुषो ने फरमाया है की—

जिन साक्षाद् सुरद्रुम जिन भगवान साक्षात् कल्प वृक्ष है–ससार में एक जिन प्रवचन ही अर्थरूप एव परमार्थ रुप है इसके शिवाय कितना भी धन वैभव क्यो न हो अरे ? चक्रवर्ति का भी

वैभव क्यों न हो वह भी अनर्थरूप है यह बात दृष्टि में वेठ जाय वही दर्शन विशुद्धि है।

"गोयमा जो जिण पडिमं पूएइ सो नरो सम्मदिट्ठि जाणियव्वो, जो जिण पडिमाणं न पूएइ सो मिच्छादिट्ठि जाणियव्वो मिच्छादिट्ठिस्स नाणं न हवइ चरणं न हवइ मुक्खं न हवइ सम्मदिट्ठिस्स नाणं चरणं मुक्खंच हवइ से तेणट्ठेणं गोयमा सम्मदिट्ठि सड्ढेहीं जिणपडिमाणं सुगंध पुष्फ चंदण विलेवणेहिं पूया कायव्वा ॥"

गौतम ? जो नर जिन प्रतिमा की विधि पूर्वक पूजा करता है उसको सम्यग्दृष्टि जानना जो जिन–प्रतिमा को नही पूजता है उसको मिथ्या दृष्टि जानना। मिथ्या दृष्टि को ज्ञान नही होता है और मोक्ष भी नहीं हो सकता है। सम्यग् दृष्टि को सम्यग् ज्ञान चारित्र और मोक्ष होता है इसलिए गौतम ? सम्यग् दृष्टि श्रावक को प्रतिदिन चंदन, पुष्प, धूप, दीप और विलेपनादि से अरिहंत परमात्मा की पूजा करनी चाहिए इस तरह से महाकल्प सूत्र में जिन-पूजा एवं जिन प्रतिमा के दर्शन का साफ-साफ शब्दों में विधान किया गया है। नंदीसूत्र मे जहां सूत्रों के नाम का लिस्ट दिया गया है उसमे महाकल्पसूत्र का भी उल्लेख किया गया है।

'उववाई' सूत्र मे चपानगरी के वर्णन मे लिखा है—

"वहुला अरिहत चेइयाइ" याने चपानगरी के मोहल्ले-मोहल्ले में जिन मदिर थे। वैसे ही द्वारिका राजगृही नगरियो में भी मोहल्ले-मोहल्ले में जिन मदिर थे। इन सभी पाठो से मन का सपूर्ण समाधान हो सकता है।

पू–देवचन्द्रजी महाराज ने फरमाया है कि—

"निरख्यो सुविधि जिणद समाधि रसे भर्यो हो लाल
प्रगटयो आतम स्वरुप अनादि नो विसर्यो हो लाल
सकल विभाव उपाधि थकी मन उसर्यो हो लाल
सत्ता साधन मार्ग भणी ऐ सचर्यो हो लाल ।।"

समाधि रसपूर्ण सुविधि जिणद को निरखते ही अनादि से जिसका विस्मरण हो गया था उस आत्मस्वरुप का स्मरण अथवा प्रगटीकरण हमे हुआ है रागद्वेषादि रुप सकल विभाव उपाधि से हमारा मन अब बिलकुल उठ गया है और आत्म सत्ता सिद्ध करने का जो सम्यग्ज्ञानादि साधन मार्ग है उस मार्ग के प्रति हमारा मन अब सचरने लगा है अनादिकाल से आत्म स्वरुप का जहा विस्मरण था उस स्वरुप का जिस आलबन के प्रभाव से सस्मरण हुआ उसका महत्व बताने को अपने पास शब्द नही है।

यतना का पालन करने का

आश्चर्य तो इस बात का हो रहा है कि जिन प्रतिमा की पुष्टि में इतने इतने प्राचीन उल्लेख मिलने पर भी अपने पूर्वग्रह के कारण कुछ संप्रदाय वाले प्रतिमा का आलंबन मान्य नहीं रखते है और शास्त्रों में कहीं उल्लेख नहीं होने पर भी अमुक चीज का बहुत ज्यादा आग्रह रखते है जैसे कि यतना के लिए मुहपत्ति का अवश्य उपयोग करने का शास्त्रों में बताया है मगर कायम मुंह पर बांधने का किसी शास्त्र में नहीं लिखा है।

विपाक सूत्र एवं भगवतिसूत्र के पाठ से मुहपत्ति समीक्षा

विपाक सूत्र में मृगापुत्र का अधिकार आया है उसके पिता का नाम विजय राजा एवं माता का नाम मृगा देवी था। उसको तीव्र अशाता वेदनीय कर्म का उदय था। जन्म से ही वह अंधा था एवं हाथ, पांव, नेत्र आदि अंगोपांग भी नही थे केवल उन अंगोपांगो के आकार चिन्ह ही थे। मृगारानी उसका पालन पोषण बड़ी सावधानी से कर रही थी। एक समय गौतमस्वामी का मृगादेवी के घर पर पधारना हुआ। मृगादेवी ने गौतम स्वामी को विधिपूर्वक प्रणाम करके पूछा प्रभु ? किस प्रयोजन के लिए आपका यहां पधारना हुआ है ? गौतम स्वामी ने कहा कि मैं

तुम्हारे पुत्र को देखने के लिए आया हू मृगादेवी ने अपने पुत्रो को वस्त्रालकारादि से अलकृत कर गौतम स्वामी को दिखलाए तब गौतम स्वामी ने कहा मैं इन पुत्रो को देखने नही आया हू मैं तुम्हारे ज्येष्ट पुत्र मृगापुत्र को देखने आया हू जिसको तुमने भू-गर्भ में रखा है। मृगारानी को बडा आश्चर्य हुआ कि भूगर्भ की बात को कैसे क्या जान ली ? गौतम स्वामी ने कहा हे ! देवानुप्रिये मेरे धर्माचार्य भगवान महावीर प्रभु सर्वज्ञ सर्वदर्शी है उन्होंने ही मेरे को मृगापुत्र का स्वरुप बताया है।

कोई जन्मान्ध व्यक्ति जो हर तरह से बहुत दु खी था जिसके मु ह के पास मक्खिया भिनभिना रही थी नगर के बालक भी उसके पीछे पड जाते थे वह व्यक्ति भगवान महावीर का आगमन सुनकर समवसरण मे दर्शनार्थ आ पहु चा था उस मनुष्य की वैसी हालत देखकर मैंने भगवान महावीर प्रभु से पूछा यह मनुष्य जन्म से अ धा और कितना दु खी है तब महावीर प्रभु ने मुझे तुम्हारे पुत्र का स्वरुप बताया और फरमाया मृगापुत्र राजा का पुत्र होने पर भी जो दु ख का अनुभव कर रहा है उसके मुकाबले इस जन्मान्ध व्यक्ति का दु ख कुछ भी नही है इसलिए मैं मृगापुत्र को देखने आया हु। गौतम स्वामी की जिज्ञासा देखकर मृगादेवी ने गौतमस्वामी से कहा कि भगवन् पधारीए मैं आपको-मृगापुत्र को दिखलाती हु। मृगादेवी ने काष्ट की एक छोटी गाडी मे मृगापुत्र

के लिए अशन, पान,खादिम,स्वादिम रुप आहार भी साथ ले लिया क्योंकि भोजन की वेला हो गई थी। वह पतला आहार उसके शरीर पर ही डाला जाता था क्योंकि उसके शरीर के किसी भी अवयवों का विकास नहीं था इन्द्रियों के स्थान पर छिद्र पड़े हुए थे वह आहार उसके शरीर में प्रवेश करते हीं खून और पाक के रूप में परिवर्तित हो कर वाहर निकल आता था पुनः मृगापुत्र उस आहार को चाटता था। ऐसी हालत में वह जीवन बीता रहा था अत्यन्त दयाजनक एवं दुःखमय उसका जीवन था।

भवांतर में वह जीव अक्खाइ राठोड़ के भव में था उस भव में उस जीव ने बहुत से दुष्कर्म किये थे उसी कारण ऐसी हालत में उसको जन्म लेना पड़ा है आगे भी उस जीव को वहुत लम्बे काल पर्यन्त नरक तीर्यंचादि योनियों में भटकना पड़ेगा। कर्म के विपाक बहुत खतरनाक होते है।

मृगादेवी भूमिगृह के पास उस गाड़ी को खींचकर ले आई और "चउत्प्पुडेणं वत्थेणं मुहं बंध माणी" चार पड़ वाले वस्त्र से अपना मुंह वांध लिया साथ साथ गौतम स्वामी से प्रार्थना करते हुए कहा की—

"तुब्भेवियणं भंते मुहपोत्तियाए मुहं बन्धह"

भगवन आप भी अपनी मुख वस्त्रिका के द्वारा मुंह बांधलो और गौतम स्वामी ने वैंसा ही किया।

अब सवाल खडा होता है कि यदि मुहपत्ति से मु ह बधा हुआ होता तो भगवन ! आप मुहपत्ति के द्वारा मु ह बावलो ऐसी प्रार्थना करने की जरुरत ही कहा रहती ? मु हपत्ति हाथ में होने से मु ह वाधने की प्रार्थना की है। कहते हैं कि मु ह तो वाधा हुआ था रुमाल मे मु ह और नाक वाधने की प्रार्थना की है यह अर्थ यहा घटित ही नही होता है रानी ने स्वय ने अपना मु ह वाधा है वहा "वत्थेरण मुहवध मारणो" ऐसा शब्द प्रयोग हुआ है तो पसीना पोछने के वस्त्र से यदि मु ह वावने की विनती की होती तो "वत्थेरण मुह वघइ" ऐसा शब्द प्रयोग होता मगर सीधा मुहपत्ति शब्द का ही प्रयोग हुआ है। उस बालक के शरीर में से इतनी भयकर दुर्गन्ध फैल रही थी कि स्वास्थ्य की दृष्टि से मु ह वाघना अत्यन्त जरुरी था साथ साथ नाक भी बावा होगा मगर मूल विपाक सूत्र में 'मु हबंघह' ऐसा ही सूत्र पाठ आया है इस पाठ से सिद्ध होता है कि मुहपत्ति जव वोलना हो अथवा व्याख्यान में सूत्र वाचना देना हो तव जतना रखने का साधन जरुर है अथवा कथुआ मक्खि मच्छर वगैरह सपातिम सूक्ष्म जतु कहे जाते है जो उडते रहते है उनकी रक्षा के लिए भी जतना पूर्वक बोलने का विधान है वाकि कायम वाध के रखने का सूत्र म विधान नही है।

ऐसा ही विधान भगवती सूत्र के सोलहवे शतक मे भगवान ने फरमाया है वहा गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है कि प्रभु ! देवराज

इन्द्र सावद्य भाषा बोलते है कि निर्वद्य भाषा बोलते है। भगवान ने प्रत्युत्तर दिया कि—

"गोयमा सवज्जंपि भास भासइ
अरणवज्जंपि भास भासइ" ॥

गोतम। देवराज इन्द्र सावद्य भाषा भी बोलते है और निर्वद्य भाषा भी बोलते हैं फिर गौतम स्वामी ने पूछा–

"केरणट्ठे रणं भंते एवं वुच्चइ सावज्जंपि
जाव अरणवज्जंपि भासं भासई ॥"

हे भगवन ? आपने जो फरमाया कि देवेन्द्र सावद्य भाषा भी बोलते है और निरवद्य भाषा भी बोलते है ऐसा किस हेतू आपने फरमाया ?

"गोयमा। जाहेरणं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं अरिणजुहिताणं भाषं भाषइ ताहेंणं सक्के देविंदे देवराया सावज्जं भाषं भासइ ॥"

गौतम जब देवेन्द्र हाथ अथवा वस्त्रादि से मुख को आवृत किये विना बोलते है तब सावद्य भाषा बोलते है। टीकाकार अभयदेव सूरीजी ने भगवतीसूत्र की टीका में लिखा कि देवराज

इन्द्र जब "हस्ताद्यावृत मुखस्य ही भापमाणस्य जीव सरक्षणतोऽनवद्य भाषा भवति अन्यातु सावद्येति"। हस्त अथवा वस्त्र से उपयोग रखकर जब बोलते है तब उस भाषा को निर्वद्य भाषा कही जाती है। इस भगवती सूत्र के विधान में भी उपयोग एव जतना पर ही भार दिया गया है। सावद्य के निर्वद्य भाषा का प्रश्न देवेन्द्र के विषय मे पूछा गया है किसी साधु अथवा श्रावक के लिए नही पूछा गया है और देवेन्द्र अविरतिधर होने मे मुहपत्ति पास में रखने का अथवा वाधने का सवाल ही नही रहता है। कई सप्रदायवाले देव अविरतिधर होने से उनकी करणी मान्य नही करते है यदि मान्य करते है तो समकिति देव जिन-प्रतिमा की पूजा करते है वह भी मान्य करना होगा ?

श्री आचाराग सूत्र के दूसरे श्रुत स्कध में कहा गया है कि खासी खाते समय, छींक लेते समय और डकार लेते हुए साधु को "पाणिणा परिपेहित्ता" हाथ से मु ह टाकना। अब विचारो की मु ह वाधा हुआ होता तो टाकना क्यो कहा जाता ?

दशवैकालिक सूत्र में भी फरमाया है कि—
"जय भुजतो भासतो पाव कम्म न बंधइ"।

जतना पूर्वक भोजन करने वाला और जनता पूर्वक वोलने वाले को पाप कर्म का वध नही होना है आखिर तो जतना में ही

धर्म है। बोलने के समय मुहपत्ति वगैरह का उपयोग रखना चाहिये यदि नहीं रखते है तो वह प्रमाद दोप है कहीं प्रमाद का बचाव नही हो सकता है जितना रखा जाय उतना उपयोग रखना चाहिए, आखिर जीव का लक्षण भी तो उपयोग है।

शरीर के कई भागों मे से हवा का संचरण होता रहता है मुंह तो जब बोलना हो तब ही खुला रहता है उस समय तो उपयोग अवश्य रखा जा सकता है मगर श्वांसोश्वांस नाक से लिया जाता है उसमे से हवा का संचरण होता ही रहता है श्वांसोश्वांस लिए विना जीवन ही नहीं रह सकता है। शरीर के किसी दूकरे द्वार से भी कभी कभी वायु का संचरण होता ही रहता है अब कहां कहां पट्टी लगायेंगे ? इसलिए चलते समय, बेठते समय, उठते समय, शयन करते समय, बोलते समय जयणा का पालन किया जाय वही धर्म है और जतनापूर्वक वह सब प्रवृत्ति करने से पाप का बंध नही होता है, होता है तब भी अल्प बंध होता है।

मूर्तिपूजा के शास्त्रों में जगह जगह पाठ मिलते है जबकि कायम मुंहपत्ति बांधकर ही रखना उसके पीछे शास्त्र का कोई आधार नहीं है। तव भी उसका आग्रह रखा जाता है तो मूर्ति पूजा जो शास्त्र एवं आगम मान्य चीज है उसको भी अवश्य प्रमाण करना चाहिये ?

भक्तियोग में समर्पण भाव रहेगा ही

कितने ही मनुष्य ऐसी भी शका उठाते है कि भगवान तो वीतराग एव सर्वज्ञ सर्वदर्शी है तो उनकी मूर्ति को आभूषण, अलकार क्यो चढाये जाते है ? इस शका का समाधान भाव यही है कि देवाधिदेव के प्रति जहा भक्ति का भाव है वहा समर्पण भी अवश्य रहेगा ? अरिहत परमात्मा को भजने वाले भक्त के मन मे ऐसे अध्यवसाय जरुर उत्पन्न होवेगे की यह देवाधिदेव मेरे अनत उपकारी है मै क्या इनको समर्पण करु ? मेरा धन तो क्या ? मेरे तन मन भी इनको समर्पण कर रहा हु। देवाधिदेव की आज्ञानुसार ही मेरे तन, मन, वचन अब से कार्य करते रहेगे। भक्तजन सुवर्ण, हीरा, मणि, माणिक्य के आभूषण भी भगवान को समर्पण भाव की बुद्धि से चढाता है। परीग्रह की मूर्च्छा उतारने का यही उत्तम मार्ग है। भक्तजन को भगवान की बाल्यावस्था, राज्यावस्था, त्यागावस्था सभी अवस्थाऐ मान्य है इतना ही नही जब से भगवान गर्भाशय मे आते है तब से मति,श्रुत, अवधि ये तीन ज्ञान साथ मे लेकर आते और देवेन्द्र गर्भाशय में रहे हुए भगवान की नमुत्थुण के पाठ से स्तवना करते है। गर्भाशय मे भगवान उत्पन्न होते है तब से उनका देवत्व सिद्ध हो जाता है। कोइ कहेगा कि फिर साधुओ को भी कचन, हीरा, मणि माणिक्य क्यो नही समर्पण करते हो ? भक्ति भाव तो साधु के प्रति भी होता ही है तो फिर उनको भी समर्पण करो ? मगर साधु साधक है जबकि

परमात्मा सिद्ध है साधू संपूर्ण वीतराग नहीं हुए हैं उनमें अभी राग दशा पड़ी हुई है इसलिए निर्दोष आहार, पानी, वस्त्र, पात्र से उनकी भक्ति की जाती है जबकि परमात्मा तो परिपूर्ण है स्थापना निक्षेप के माध्यम से ही मुकुट. कुंडलादि अलंकार चढ़ाये जाते है। जब भगवान साक्षात विचरते थे तब तो भगवान भी निर्ग्रंथ अवस्था में थे भाव निक्षेप के माध्यम से भक्ति का प्रकार अलग है अलंकार आभूषण आदि स्त्रियों को, पुत्र पुत्रियों को समर्पण करने से रागदशा बढेगी वही चीज परमात्मा को भक्ति भावना से अर्पण करने से परिग्रह की मूर्च्छा छुटेगी और आत्मा उस चीज मे पूर्ण वैराग्य भाव को प्राप्त करेगी।

नैवेद्यादि चढ़ाने का ध्येय

नैवेद्यादि जो चढ़ाये जाते है वह अणहारीपद प्राप्त करने के ध्येय से चड़ाये जाते है उस समय यह भावना रखी जाती है कि नाथ ? मै आहार संज्ञा से मुक्त होकर कब आपकी तरह अणहारी पद को प्राप्त करुंगा ? भवोभव से आहारादि चार संज्ञा के कारण चार गति में भटकता आया हूं ऐसा मेरे में आत्मबल प्रगटों कि चारो संज्ञा पर विजय प्राप्त करके आखिर आत्मा के शुद्ध स्वरुप को मै भी प्राप्त करु। मंदिर में घंटा बजाया जाता है उसके पीछे भी ध्येय यही रखने का है कि मेरे जीवन में भी सत्य का घंट कब बजे ? सुगंध युक्त दशांग धूप जलाया जाता है उसके

पीछे ध्येय यह रखने का है कि मेरे जीवन में से मिथ्यात्व रुपी दुर्गन्ध कैसे क्या हटे ? स्वस्तिक के पीछे ध्येय यह रखने का है-कि कब मेरी आत्मा रत्नत्रय की आराधना करके चारगति रुप ससार परिभ्रमण से मुक्त होकर शुद्ध बुद्ध निरजन निराकार स्थिति को प्राप्त करके सिद्धशिला पर अपने स्वरुप की स्थिति में विराजमान होवे ? और रति अरति दोनो से मुक्त होकर कब मैं विरति को प्राप्त करु ? ऐसी भावना से आरती उतारने की है ससार के इष्ट सयोग प्राप्त होते ही मन मे जो आनद उत्पन्न होता है वह रति और कष्ट पडने पर जो उद्वेग उत्पन्न होता है वह अरति तब भगवान कैसे है ? "अरइतिमिर विरहिय मुवरयजरमरण" अरति रति रुपी तिमिर से मुक्त है और इसी कारण- जन्म मरण से भी मुक्त बने हुए है। हम रति अरति के द्व द मे फसे हुए है जब विरति मे आयेगे तब अपन भी द्व दातीत बनेगे। मागल्यमाला के ध्येय से मगलदीवा उतारने का है। उसमें भी भावमगलही अति-श्रेष्ट है भगवान का जब अभिषेक करते है तब सोचना चाहिये नाथ ? आप तो कर्म मल से रहित होने से बिलकुल निर्मल हो मगर निर्मल जल से आपको अभिषेक करने के द्वारा मैं मेरे कर्म मल धो रहा हू जिसके फलस्वरुप आखिरमेरी आत्मा भी निर्मल बने।

"जिनवर-पूजा-रे ते निज पूजना रे
प्रगटे अन्वय शक्ति"

पू० देवचन्द्रजी ने फरमाया है कि जिनेश्वर की पूजना वह तत्व दृष्टि से निज स्वरुप की पूजना है क्योंकि वैसा ही वीतरागी स्वरुप तत्व दृष्टि से अपनी आत्मा का है पूज्य की पूजा करते-२ आखिर पूजक भी पूज्य बनता है अथवा चंदन में जैसी शीतलता है वैसी शीतलता अपने आत्म परिणाम में आ जाय और कषाय भाव की उग्रता दूर हो जाय इसी हेतू से चंदन पूजा करने की है। इस तरह की भावनापूर्वक जिनराज की पूजा उपासना करने से अनंत गुणा लाभ हो सकता है। शुद्ध हेतू पूर्वक क्रियाए करने से अमृत क्रिया का लाभ होता है और आज जो भजने वाला है वही भजते भजते आखिर भगवान बनता है।

सूर्य के उदय से अंधकार का प्रतिषेध वैसे ही सत्य के दर्शन से संशय का विच्छेद—

इस काल में माध्यस्थ दृष्टि से विचारने वाले मनुष्य भी है इस पुस्तक का वांचन माध्यस्थ दृष्टि से यदि किया जायगा तो बहुत कुछ लाभ का कारण होगा ? जिन्होंने जिनप्रतिमा के विषय में अपनी पुस्तकों में बहुत ही विपरीत प्ररुपणा या रजुआत की है उनकी समालोचना इस पुस्तक में करनी पड़ी है। किसी भी जीव को सत्यवस्तु में संदेह न हो जाय और हुआ हो तो उसका भ्रम दूर हो जाय इसी शुभाशय से यह प्रयास किया गया है। इस पुस्तक को पढ़ने के बाद जिनप्रतिमा के विषय में हलुकर्मी जीवों के

सभी सशय दूर हो जायेगें। सूर्य का उदय होते ही जैसे अंधकार का अपने आप प्रतिषेध हो जाता है वैसे ही सत्य वस्तु स्वरूप का दर्शन होते ही सभी सशय दूर होने से मन का समाधान होता है वह समाधान ही आखिर मानसिक प्रसन्नता एव चित्त समाधि का हेतू बनता है वैसा लाभ सभी जीव को हो यही एक अभिलाषा के साथ इस पुस्तक का पूर्ण विराम हो रहा है।





मुक्तिद्वार

(उत्तरार्ध)

मुक्ति द्वार

दुल्लहे खलु माणुसे भवे —श्री उत्तराध्ययन सूत्र के दशवे अध्ययन मे भगवान महावीर प्रभु ने मनुष्य भव को अति दुर्लभ बताया है-शास्त्रो में प्रत्येक महापुरुषो ने नर जन्म को ही दुर्लभ कहा है क्योकि अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने का मनुष्य भव ही एक अपूर्व अवसर है। मनुष्य जन्म सिवाय चोरासी का फेरा नही मिट सकता। देव भव सिर्फ भोग विलास के लिए है योग साधना मनुष्य भव मे ही हो सकती है इसीलिए मनुष्य जन्म ही मुक्ति का मगल द्वार है।

कई मनुष्य सोचते है कि मनुष्य भव तो हमे मिल गया है-अब क्या इसकी दुर्लभता हमें समझा रहे है मगर साथ साथ यह भी सोचना होगा कि कितना समय व्यतीत होने के बाद मनुष्य भव मिला है? अनत काल व्यतीत होने के बाद मनुष्य भव हाथ में आया है और यदि प्रमाद के वश नर जन्म को हार गये तो पुन अनत काल में मिलना दुर्लभ हो जायेगा? उची करणी के प्रभाव से मनुष्य भव सात आठ वार पुन मिल सकता है। मगर करनी और कथनी में यदि गलती कर बैठे और जीवन भर दुष्कर्म

ही करते रहे तो अनंत काल भटकना होगा फिर तो मनुष्य भव मे नवर ही कहां लगने वाला है ?

सम्यग् ज्ञान दर्शन और चारित्र की आराधना मे ही मनुष्य जन्म को सार्थक बनाया जा सकता है। मनुष्य शरीर से पाप कर्म एवं भोग कर्म ही करते रहना, वह तो सोने के थाल मे शराब भरने बराबर है। मनुष्य शरीर जो मोक्ष पद प्राप्त करने का साधन है उसमें पाप कर्म का कचरा कैसे भरा जा सकता है।

मानवता धार्मिकता अध्यात्मिकता एवं पूर्णता ये धार्मिक जीवन के चार विभाग है उसमे सबसे पहले मानवता का विकास होना चाहिये उसके प्रभाव से धार्मिकता का जरूर विकास हो सकेगा।

वाणिज्य में अथवा कोई भी क्षेत्र मे सिर्फ अपना ही स्वार्थ देखना वह मानवता नही मगर दानवता है। जीवन मे परमार्थ करते रहना ही मानवता है। नीति न्याय से व्यापार करना ही व्यापार है। अनीति से व्यापार करना वह व्यापार नही मगर धोले दिन की लूंट है। नीति न्याय ही धार्मिक जीवन की नींव है। गरीबों का शोषण नहीं मगर पोषण करना है। शक्ति अनुसार उनको सहायता पहुंचाना ही मानव धर्म है। जो इन्सान मानव धर्म का पालन नही कर सकता वह आत्म धर्म का क्या पालन करेगा ?

आत्मा, शुद्ध, बुद्ध, निरंजन निराकार, है। यह सब, बोलना आसान है मगर आत्मस्वरूप में स्थिति एवं रमणता करना वह आसान नहीं मगर आसमान है। साधन को कभी भी साध्य, मान नहीं लेना मगर साधन के बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती, वह भी बिलकुल निश्चित बात है। मलीन वस्त्र पर केशरिया, रंग चढ़ना नहीं। वैसे ही मलीन व्यवहारी जीव पर निश्चय का, रंग कभी नहीं चढ़ेगा। सामयिक, प्रतिक्रमण जिन पूजा दान, शील व्रत पच्चक्खाण आदि सद्व्यवहार का लोप करने वाला अपने ही, बोधि बीज का घातकी बनता है। शुरुआत में आलंबन का, सहारा लिए बिना कोई भी जीव आगे नहीं बढ़ सकता। व्रत पच्चक्खाण यमनियमादि का पालन प्रतिदिन देवपूजा स्वाध्याय, सुपात्रदान तप जपादि करते रहना वह धार्मिकता है। आत्मस्वरूप में रमणता करना ही अध्यात्मिकता है। केवल ज्ञान की प्राप्ति ही पूर्णता है।

राग, द्वेष और मोह ये तीनों कर्म की मुख्य ग्रन्थ है। उनमें जो निवृत्त हुआ वही निग्रंथ है। राग आखिर आग है द्वेष से भी राग खतरनाक है। द्वेष दावानल है तो राग वड़वानल है राग पर विजय हुआ तो द्वेष पर विजय हो ही जाता है। फिर तो देखना ही क्या ? आत्मा वीत राग बनती है वीतराग केवली बनता है, फिर तो इस चक्कर में से छुटकारा हो ही जाता है।

पर्वाधिराज पर्युषण पर्व की आराधना भी राग द्वेष वैर और क्रोधमान माया लोभ इन आंतर शत्रुओं पर विजय पाने के ध्येय से करनी चाहिए। कितना भी दुष्कर तप करने पर भी आत्मा यदि उपशम भाव में नहीं आती है तो उसको आरावना नही मगर विराधना कहीं है। यदि आत्मा अनुपशांत है तो भल भले ज्ञानी ध्यानी और तपस्वी जो गुण को प्राप्त नहीं कर सकते है उस गुण को उपशांत आतमा प्राप्त कर लेता है। वैरभाव और कषायभाव को उपशमा के अपनी आत्मा को शुद्ध भाव मे लाना ही पर्व पर्युषण का सार है, और वही निर्ग्रंथ प्रवचन का सार है।



दिल और दिमाग

आज के मनुष्यो के पास दिमाग है मगर दिल नही है। आजकल शिक्षण और वाचन बढने से बौद्धिक विकास जरूर हुआ है, मगर साथ-साथ हृदय का विकास होने के बदले हृदय सकुचित होता जा रहा है। हृदय का विकास सिर्फ वाचन से नही होता, चिन्तन से होता है। मैत्री, प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ ये चारो भावनाओ का चिन्तन जीवन मे अत्यत जरूरी है। सद्भावना प्रधान अत करण को ही दिल कहा जाता है। जबकि भावनाशून्य अन्त करण को दिल नही मगर कहना ही हो तो बिल जरूर कह सकते है। जगल मे बिल होते है, जिनमे सर्पों का वास होता है।

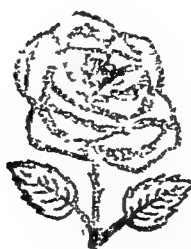
"अय निज परोवेत्ति, गणना लघु चेतसाम् ।"

यह मेरा है और यह पराया है, ऐसी गिनती वही करते है जो क्षुद्र हृदय के होते है। जो उदार हृदय के होते है उनकी दृष्टि मे सारी पृथ्वी कुटुम्बवत् है।

सतो का हृदय मक्खन जैसा होता है, ऐसा कई कवियो ने कहा है, मगर उसका रहस्य किसी ने नही जाना। अपने को ताप लगने से मक्खन पिघलता है। परन्तु सन्तो का हृदय तो पर

दुःख से द्रवित हो उठता है। किसी का भी दुःख देखकर हृदय द्रवित हो जाय वही हृदय का सच्चा विकास है, जिसके दिल मे दया है और जो दूसरो के दुःखो का शक्ति अनुसार प्रतिकार करता रहे वही सच्चा इन्सान है।

कई व्यापारी व्यापार में छल प्रपच करते हैं, गरीबो का शोषण करते है, व्यापार में नीति नहीं रखते है। क्योंकि वे दिमाग से काम लेते हैं, उनके दिल मे दया धर्म का यदि वास होता तो वे गरीबो का शोषण नही बल्कि पोषण करते और सभी आत्माओं को अपनी आत्मा के समान समझते। किसी के भी साथ अनीति नही कर सकते। आज दिल की दुनिया मे स्वार्थ की आग भभक उठी है। इसी कारण दुनिया मे कई अनर्थ मच रहे हैं। दिल मे यदि राम बस जाये तो सभी अनर्थों का अपने आप अन्त हो जाएगा।



द्रष्टा कौन?

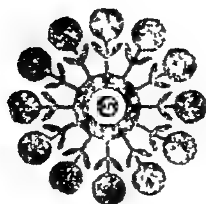
सभी आत्माओं को अपनी आत्मा के समान देखने वाला, पर द्रव्य को पत्थर समान देखने वाला और पर स्त्री को माता समान देखने वाला ही सच्चा द्रष्टा है, पर स्त्री माता समान यह आर्य संस्कृति का महान सिद्धांत है। यही अपने जीवन का आदर्श होना चाहिए।

सभी आत्माओं को 'स्व' आत्मा समान देखने वाला किसी भी इन्सान के साथ बेईमानी नहीं कर सकता, किसी जीव को दुःख नहीं पहुंचा सकता। अपनी आत्मा को जो प्रतिकूल है, वैसा वर्ताव वह अन्य किसी के भी प्रति नहीं कर सकेगा, क्योंकि वैसा अपने प्रति कोई करेगा तो अपने को इष्ट नहीं होगा। हिंसा अनीति आदि जो अपने को अनिष्ट है वह सभी को अनिष्ट है, सभी आत्मा समान है।

आज कल कई मनुष्य रूप सौंदर्य में मोहित बन जाते हैं, मगर उनकी हालत पतंग के जैसी होती है पतंग लाइट के प्रकाश में इतना आसक्त बन जाता है कि आखिर उसका विनाश होता है। जो-जो मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में लुब्ध बनते हैं, उनका भी आखिर विनाश होता है। मीन, पतंग, हिरन, भ्रमर वगैरह एक-एक इन्द्रिय के विषय में आसक्त बनने से भी विनाश को प्राप्त कर लेते हैं। अब आप ही सोचिए जो शब्दरूपादि पांचों विषयों

में आसक्त वने रहते हैं उनकी हालत क्या होगी ? दुनिया में कोई चीज खराव नहीं है, भीतर की आसक्ति ही खराव है।

स्वयं आत्मा ही ज्ञाता और द्रष्टा है। ज्ञान दर्शन ही आत्मा का स्वरुप है। राग द्वेष आत्मा का स्वभाव नहीं मगर विभाव है। अपनें स्वरुप को भूलकर ही जीव दुःखी वन रहा है। शरीरादि को आत्मा मान लेना ही घोर अज्ञान है। शरीर, धन वैभवादि जड़ है, आत्मा चेतन है। जड़ चेतन को एक कैसे माना जा सकता है ? शरीर की आदि है, जवकी आत्मा अनादि अनंत है। पांच इन्द्रियां और मन से भी आत्मा निराला है, क्यो की आत्मा अतिन्द्रिय है, दृष्टि तो [आखिर दृष्टि हीं है, आत्मा द्रष्टा है, आज द्रष्टा के वदले भ्रष्टा वहुत वढ़ गये हैं। ज्ञान दृष्टि से देखने वाला ही सच्चा द्रष्टा है।



प्रमाद ही अपना कट्टर शत्रु

हीरा मणि माणक से भी समय महान किमती चीज है। करोडो सोना मोहर देने पर भी मनुष्य भव का एक क्षण का आयुष्य प्राप्त नही हो सकता। जो आयुष्य व्यतीत हो गया वह पुन देवेन्द्र को भी प्राप्त नही हो सकता है। इसलिये मनुष्य भव की जो जो क्षण जा रही है वह लाखेणी जा रही है। प्रत्येक क्षण को सफल वनाना ही जीवन की सच्ची सफलता है।

अज्ञानी और प्रमादी मनुष्यो के अनेको वर्ष योही निकम्मे चले जाते है, तवभी उनके मन मे कुछ नहीं लगता। जवकि ज्ञानी पुरुष का एक क्षण भी निकम्मा जाता है तो ज्ञानी को मन में वडा दुख होता है। क्योकि ज्ञानी पुरुष मनुष्य जन्म के प्रति क्षण को महान समझता है। वह सोचता है कि मेरा एक भी क्षण धर्मध्यान के विना निकम्मा जाय उसमे मुझे वहुत नुकसान है।

ज्ञानी महापुरुषो का कहना है कि जो सत्कार्य कल करना है वह आज ही करलो, आज करना है वह अभी करलो। इस जिन्दगी का एक क्षण का भी भरोसा नहीं है। प्रमाद में पडे रहे तो कुछ भी नहीं होने वाला है, क्योकि प्रमाद अपना कट्टर दुश्मन

है। और सत्पुरुषार्थ में यदि लग गए तो सिद्धि बिल्कुल दूर नहीं है। मोक्षमार्ग मे पुरुषार्थ यदि करते रहोगे तो आत्मा आखिर परमात्मा बन जाएगा। भगवान महावीर का यह मौलिक सिद्धांत है कि प्रत्येक आत्मा कर्मों का क्षय करके परमात्मा बन सकती है। जैन दर्शन की यह स्पष्ट मान्यता है कि परमात्म पद प्राप्ति का किसी का कोई ठेका नहीं है। जो कोई इन्सान सन्मार्ग मे पुरुषार्थ शील बना रहता है वही अ त में परमात्मा बन सकता है।

जीवन में परमार्थ किये बिना कोई भी इन्सान आगे नहीं बढ़ सकता है। जब किसी पर मुसीबत का समय रहता है तब प्रत्येक इन्सान का कर्तव्य है कि अपनी शक्ति अनुसार पीड़ित और दुःखी मनुष्यों को अवश्य सहायता पहुंचावें। अपने पर भी कब दुःख पड़ेगा इसकी कोई कल्पना तक नहीं की जा सकती है। ससार में सब दिन समान नहीं रहते हैं। "यह भी दिन चला जाएगा" यह उक्ति सदा याद रखने जैसी है। "दुःखी मनुष्यों के सामने आज हम नहीं देखेंगे तो कल अपने सामने कौन देखेगा? आत्म धर्म का पालन अवश्य करना है। मगर मानवधर्म का पालन किये बिना आत्मधर्म का पालन हो

ही नही सकता है। जहा मानवता नही वहां आध्यात्मिकता का विकास होगा ही कैसे ?

धर्म वृद्धावस्था मे ही करना ऐसी वात नही है, धर्म जीवन मे निरन्तर करना है। मृत्यु वाल्यावस्था या युवावस्था मे भी आ सकती है इसलिये प्रत्येक अवस्था मे धर्म का आचरण करना चाहिये।

मृत्यु के साथ जिसकी मैत्री हो, मृत्यु के समय जिसमे पलायन कर जाने की ताकत हो अथवा जो निश्चित जानता ही है, कि मैं आज-कल तो मरु गा नही वही कह सकता है कि मैं धर्म आज नही कल करु गा अथवा बुढापे में धर्म करु गा।

किसी का कोर्ट मे केस चलता हो तो कोर्ट मे आप मुद्दत ले सकते है, मगर धर्मध्यान करना है तो उसमें कही मुद्दत नही मिलती है। एक क्षण का भी प्रमाद किये विना आप जीवन में धर्म का आचरण करते रहे, वस यही भगवान महावीर का मगलमय उपदेश है।



परमात्मा की वास्तविक स्तवना

पू–उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने अध्यात्मसार मे फरमाया है की।

शरीररुप लावण्य, वप्रच्छत्र ध्वजादिभि
र्वर्णितैर्वीत रागस्य, वास्तवीनोपवर्णना

वीतराग परमात्मा की उनके शरीर रुप लावण्य एव अष्ट प्रतिहार्य के द्वारा जो स्तुति की जाती है वह वास्तविक स्तवना नही है जैसे की हे नाथ ? क्या आपका अद्भूत रुप है, और क्या आपके अतिशयो की शोभा है इस तरह से जो स्तवना की जाती है वह व्यवहार स्तुति है–सर्व देव मिलके अपनी अद्भूत शक्ति के द्वारा अपना सारा सौदर्य सचारित करके एक अगूष्ठ प्रमाण रुप की विकूर्वणा करे तब भी भगवत के अगूष्ठ के साथ यदि उसकी तुलना करने मे आवे तो सूरज के सामने अगारे की माफक वह तुच्छ शोभा विहीन लगेगा इतना अद्भूत रुप वैभव तीर्थ करो का होना है–इस तरह से जो स्तवना की जाय वह व्यवहार स्तुति है।

व्यवहारस्तुति सेय, वीतरागात्मवर्तिनाम ।
ज्ञानादीना गुणानातु, वर्णना निश्चयस्तुति ।।

वीतराग परमात्मा के ज्ञानदर्शनादि गुणो की जो स्तवना की जाय वही निश्चय स्तुति है–

समय सार में महर्षि कुंद कुंदाचार्यजी ने भी निश्चय स्तुति का यही स्वरुप बताया है।

केवलीगुणे थुणदि जोसोतच्च केवलीं थुणदि–

केवली भगवान के अनंतज्ञानादि गुणो की जो स्तवना करता है वहीं परमार्थ से केवली को स्तवता है–जैसे नगर का वर्णन करने मात्र से राजा का वर्णन नही होता है मगर राजा के शौर्य गांभीर्य धैर्यादि गुणो का वर्णन करने से वास्तविक वर्णन जरुर होता है। वैसे ही केवली के शरीर के गुणो की स्तवना करने मात्र से वास्तविक स्तवना नही हो शक्ती है मगर उनके अभ्यंतर गुणो की स्तवना ही निश्चय स्तुति है।

जहां वीतरागता वहीं महानता

महापुरुषो ने फरमाया है की नाथ? आपके सानिध्य में देवो का आगमन होता रहता है छात्र चामरादि की विभूति विहार में भी आपके साथ चलती है सुर संचारीत सूवर्ण कमल पर आपका विचरण होता है मगर प्रभु? आप इतने मात्र से हमारे महान नहीं है–क्योकी यह सब शोभा तो मायावी इन्द्रजालीक भी खडी कर सकते है मगर आप वीतराग है इसी कारण

हमारे महान है। वीतरागता के समान दुनिया में एक भी महान वस्तु नहीं है। [illegible] गुणस्थान की अपेक्षा बारावे क्षीणमोह गुणस्थान में आत्मा संपूर्ण वीतराग बनता है उसके बाद अंतर्मुहूर्त में आत्मा को अनंतज्ञान और अनंतदर्शन की प्राप्ती होती है वह ही आत्मा का शुद्ध स्वरूप है–संपूर्ण वीतरागता प्राप्त हुए बिना अनंत ज्ञान और अनंत दर्शन प्राप्त हो ही नहीं सकता है और एक परमाणु जितना भी पुद्गलादि पर द्रव्यो में राग रह जाता है तब तक भी संपूर्ण आत्मिक लाभ नहीं हो सकता है–क्योंकि तत्वदृष्टि से परद्रव्यो में एक परमाणु मात्र का भी आत्मा मालिक नहीं है इसलिए उच्च भूमिका पर पहोचना है उनके लीए परद्रव्यो प्रतिका एक परमाणु जितना राग भी खतरनाक है।

जिनप्रतिमा के आलंबन से अपने शुद्ध वीतरागी स्वरूप का भान हो जाने यही अपूर्व सिद्धि है परंतु प्रतिमा के आलंबन से [illegible] पिछान के बाद शुद्ध स्वरूप का श्रद्धा ज्ञान और रमणता करना ही महान लोकोत्तर सिद्धि है।

मुक्ति से अधिक तुज भक्ति मुज मन वसी

हो जाय ? कल्पवेली के कल्पलता को उपमा भी इसको घटेगी नही ? शांत सुधारस में यह मुद्रा ओप रही है और अन्य भवि आत्माओ को मानो झीला रही है-इसको निरखते ही रहे मगर तृप्तिज नही होती है इस तरह की जो प्रिती मन में उत्पन्न हो जाय वही प्रिती अनुष्ठान कहा जाता है-उसके फलस्वरुप हृदय में भक्ति जागृत हो जावे और उसके फलस्वरूप परमात्मा की भक्ति में तन लीन बन जावे वह भक्ति अनुष्ठान ? फिर तो उसके अंतर में से ऐसा कोइ आवाज उठेगा "मुक्तिथीं अधिक तुज भक्ति मुज मन वसी" नाथ ? मुक्ति से भीं आप देवाधिदेव की भक्ति मेरे मन अधिक है क्योंकी मेरे हृदय में भक्ति है तो मेरे को मुक्ति की चिंता तक नही है क्योंकी आप परमात्मा कीं भक्ति आखिर लोह चुंबक की माफिक मुक्ति को खींच ले आयेगी।

अभ्यंतर प्रवेश

उसके बाद परमात्मा के वचनानुसार सामायिक प्रतिक्रमण दानशील तप भाव जिनपूजा आदि अनुष्ठान में वीर्योल्लास पूर्वक लग जावे वह वचनानुष्ठान-क्रिया अनुष्ठान एवं जिनप्रतिमा के माध्यम से आखिर अपनी अभ्यंतर स्थिति में प्रवेश कर लेना ही असंगानुष्ठान है-इसी बात पर पू-ज्ञान विमलसूरीजी ने फरमाया है की पहेला तो एक केवल हर्षे हेजा लु थइ हलीयो गुण जाणी ने रुपे मीलीयो-अभ्यंतर जइ भलीयो।

इस गाथा का रहस्य उपर मे लीख-दीया गया है आत्मा जब अभ्यतर (अ तरग) स्थिति मे जा पहुचता है तब तो अ तर में ही अ तरयामी से मिलन होता है-अ तर्मुख हुए बीना अ तरयामि से मिलन होइ नही सकता है क्योकी अ तरात्मा ही आखिर परमात्मा बनता है।

राम भरत का जब मिलन हुआ था उस समय का वर्णन कौन शब्दो मे कीया जा शक्ता है-रावण सति सीता का हरण कर गया था सीताजी की मुक्ति के लीए राम रावण के बीच बडा भारी सग्राम खेला गया, आखिर रावण का वध हुआ उसके बाद सति सीता और राम का जब सुभग मिलन हुआ उसका वर्णन कौन शब्दो मे हो सकता है श्रीपालजी देश देशातर मे गये थे और जब ऋद्धि समृद्धि के साथ लोटकर आये और मयणासु दरी और श्रीपालका शुभग मिलन हुआ उसका भी वर्णन कौन शब्दो मे हो शक्ता है वैसे ही अ तरात्म भाव जागृत होते ही अ तरयामि से जब मिलन होता है उसका वर्णन भी कौन शब्दो में हो शक्ता है।

घट घट मे अन्तरयामि है मगर जीव का उपयोग जब देखो तब बहार मे ही भमता रहता है वह उपयोग श्रुत ज्ञान के आलबन मे अथवा जिनप्रतिमा के माध्यम से ज्योही अ तर्मुख होता है त्यो ही अन्तरयामिका दर्शन होता है-याने अपने शुद्ध स्वरुप का स्वानुभव होने लगता है।

वांको चित्त बछरुआ मांय

जैसे पू-आनंदघनजी ने फरमाया है की—

उदर भरन के कारणे गौवा वन में जाय
चारो चरे चिहुं दिशि फरे वांको चित्त
बछरुआ मांय रे
चार पांच साहेलिया जल भरन कु जाय
तालो दइ खड खड हसे रे वांको चित्त
घघरुआ मांय रे
ऐसा जिन चरणे चित्त लावो ने मना
नित्य अरिहंत गुण गावो रे

गौवा जंगल में चारा चरने को जाती है दूर दूर जंगल मे घूमती फिरती है चारा चरती है पाणी पीती है सब कुछ करती है मगर उसका चित्त अपने बछड़े में ही लगा रहता है-चार पांच साहेलीया मिल के जल भरने को नदी किनारे अथवा कुवे कांठे पर जल भरने को जाती है शिर पर जल से भरा डबल बेडा रहता है रास्ते में साहेलीयो के बीच वार्तालाप एवं हास्य विनोद की जडी लग जाती है मगर इतना होने पर भी मस्तक पर का बेडा नीचे नही गीर पड़ता है-क्यों की उनका लक्ष बेडे में ही लगा रहता है वैसे ही सम्यग् दृष्टि भक्तजन संसार में रहता हुआ व्यापार वाणीज्य घर

काम वगेरे सब कुछ प्रवृत्ति करता रहता है मगर उसका चित्त जब देखो तब अपने शुद्ध स्वरुप मे अथवा देवाधिदेव अरिहत के ध्यान मे लगा रहता है बस यही सम्यग् दृष्टि जीव का मुख्य लक्षण है वह कर्मोदय के कारण घर में रहे मगर मन उसमें रमें नही, जिनमंदिर मे जाके वीतरागी स्वरुप का दर्शन करता है अथवा उपाश्रय मे जाके निर्ग्रं थ साधु महापुरुषो का दर्शन करता है बस जब देखो तब उसका मन उसी स्वरुप मे रममाण रहता है हृदय मे ऐसी भावना करता रहता है की कब मैं वीतरागी शुद्ध स्वरुप को प्राप्त करु और कब मेरा जन्म सार्थक करु ? क्योकी राग द्वेष को जीतकर शुद्ध वीतरागी स्वरुप प्राप्त कीये बीना जन्म मरण का फेरा मिटने वाला नही है।

नटवो नाचे चोक मे लोक करे लख सोर
वासग्रही वरते चढे वाको चित्त न चलों कहु ठोर रे
जुगारी के मन जुगार कामी के मन काम
आनदघन प्रभु-यु कहेरे तुमे ल्योने भगवत को नाम रे-
ऐसा जिन चरणे चित्त लाओ ने मन नित्य अरिहत
गुण गावो रे

नटराज चोक में वास की दोर पर जब खेल करता है तब उसका खेल देखने वाले वार वार हर्षनाद करते रहते है वशमोर वश मोर भी पुकारते है मगर नटराज का लक्ष तो दोर पर ही

रहता है-और वो यदि लक्ष चूक जाय तो चकनाचूर हो जाय, क्योंकी वो अपने प्राणो की बाजी लगा के खेल करता है। इसलीए, वो लक्ष तो चूके काज नही वैसे ही कीतनी भी प्रवृत्ति में रहते हुए भी जो सच्चा भक्तजन है उसका लक्ष परमात्मा से नही हठता है-वह समजता है की में लक्ष चूका तो मेरा जीवन भी चकनाचूर हो जायेगा।

जुआरी का मन जब देखो तब जूए में लगा रहता है कामी का मन काम वासना में लगा रहता है वैसे ही भक्त का मन भगवान में लगा रहता है।

आज कल कीतनेक मनुष्य मंदिर में दर्शन को जाते है दर्शन-विधि करके बहार निकलते है तब जो कोइ रास्ते में मिलते है उनको बोलते है आप दर्शन को गये थे अरे भाइ ? में तो नही शका-अरे आप अमुक मंदिर में जरुर दर्शन को जाइए क्यां भगवान की आंगी बनी है-आज की आंगी का दर्शन तो अवश्य करने योग्य है ऐसी हीरा माणेक की आंगी बहुत लंबे समय के बाद बनी है-परन्तु उनको सोचना चाइए की दर्शन आंगीका करके का है के भगवान के वीतरागी स्वरुप का दर्शन करके का है ? परमात्मा के बाह्य वैभव पर ही यदि दृष्टि को रोक ली गइ तो उनके ज्ञान दर्शनादि आंतर वैभव का दर्शन होगा कैसे ? आंगी के निमित्त भी कई जीवो का परमात्मा के दर्शन प्रति आकर्षण बढता है

इसलीए आगी का निषेध नही है अ ग रचना अवश्य करनी-और यह भी शक्ति होवे तो सोने के वरख वगेरे उत्तम द्रव्यो से करनी जिससे दर्शन करने वालो का भावोल्लास बढे ? मगर दृष्टि को वही सिमित नही करने की है क्योकी वीतराग परमात्मा की उपासना करते करते आखिर तो अपने को वीतराग बनना है साधक दशा में अपन आलबन का सहारा अवश्य लेवे मगर आखिर तो निरालबन बनना है-जिनेश्वर भगवान की प्रतिमा के आलबन से ध्यान कीया जाय वह सालबन ध्यान है-और उन्ही परमात्मा के केवल ज्ञानादि गुणो की तन्मयता रुप जो ध्यान है वह निरालबन ध्यान है-

आगी होवे उसी दीन दर्शन को जाने का है ऐसी बात नही है प्रति दिन दर्शन को जाने का है और यो करने करते आत्मा वीतरागी भाव के सन्मुख बनेगा और आखिर वीतराग बनेगा।

साधन जरुर करने का है मगर साध्यका लक्ष भी जरुर रखने का है-सद्व्यवहार जरुर करते रहने का है मगर दृष्टि निश्चय पर रखने की है बस यही जीवन का विज्ञान है और यही जीवन का सार है ।

तेरो अगम अगोचर रुप

कलिकाल सर्वज्ञ पू-हेमचंद्राचार्यजी ने वीतराग स्तोत्रमे फरमाया है की ।

क्रोध लोभ भयाक्रांत, जगदस्माद्विलक्षणः ।
नगोचरो मृदुधियां, वीतराग कथंचन ॥

हे वीतराग प्रभो ? यह सारा जगत् क्रोध लोभ तथा भय से आक्रांत बना हुआ है आप इन दोषो से सर्वथा मुक्त होने से संसारी आत्माओ की अपेक्षा बिलकुल विलक्षण है-इसी कारण अल्पमति वालो को आप अगोचर है क्रोधादि कषायो पर थोड़ा सा भी कंट्रोल कीये विना इन्सान वीतराग परमात्मा को अपने जीवन का लक्ष नही बना शकता है ।

और भी पू-हेमचंद्राचार्यजी ने फरमाया है—

मैत्री पवित्र पात्राय, मुदितामोद शालीने ।
कृपोऽपेक्षा प्रतीक्षाय, तुभ्यं योगात्मनेनमः ॥

मैत्री भावना के पवित्र स्थान रुप, हृष्ट ऐसी प्रमोद भावना से परिपूर्ण है अंतःकरण जिनका-कारुण्य एवं माध्यस्थ भावना के द्वारा अत्यन्त पूजनीक ऐसे योग स्वरुपी आप देवाधिदेव को हमारा कोटी कोटी वंदन हो ? मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ इन चारो भावनाओ को आत्मसात् कर लेना ही धार्मिक जीवन का मुख्य लक्षण है इन चारो भावनाओ का परिशीलन ही मानसिक स्वास्थ्य का द्योतक है-वीतराग परमात्मा की स्तवना के माध्यम से महापुरुषो ने जगत को कितना उच्च अमर पैगाम दिया है ।

॥ इति श्री ॥

दर्शन विशुद्धि पुस्तक प्रकाशन में
सहयोगी श्री सघ एवं
मुमुक्षु भाई-बहनो की शुभ नामावली

पृष्ठ	नामावली	नगर
५०१	श्री जैन श्वे, मू पु श्री सघ	उदयपुर
५१	विजय निमिसूरी म सा के प्रशिष्य स्व उमेदविजय जी की स्मृति में जैन धर्म प्रचारक समिति	"
२१	जोधराजजी कोठारी	"
२१	कुन्दन लाल जी मीया	"
११	कालु लाल जी जैन	"
११	रोशन लालजी शान्ति लालजी लोढा	"
११	श्री बनीलालजी मेहता	"
११	रतन लालजी नलवाया	"
११	मागीन लालजी मेहता	"
११	प्रभुलालजी दोषी	"
११	भेरुलालजी जावरिया	"
११	मोहन लालजी छाजेड	"
११	फतेह लालजी बया	"
११	गेरी मालजी वरणपुरीया	"

११	गुप्त ह. साध्वीजी सुदर्शना श्रीजी	"
११	विजय सिंह जी मारवाड़ी	"
११	सागर बाईजी दलाल	"
११	मोहन लाल जी दलाल	"
११	भंवरलाल जी चावत	"
११	संतोक बाईजी सायरावाला	"
११	कंचन बाईजी भेरव्या	"
११	फतेह लालजी सिंघवी	"
११	रोशन लालजी हुंबड़	"
११	मनोहर कुमार बया	"
११	बसंती लालजी बापना	"
११	करण सिंहजी नाहर	"
११	नन्द लालजी सिंघवी	"
११	गोविंद सिंहजी सिपाणी	"
११	भुरी लालजी सुराणा	"
११	कुसुम कुमारी चपलोत	"
११	मीठा लालजी तलेसरा	"
११	रोशन लालजी राजनगर वाला	"
११	भंवर लालजी गोडवाला	"
११	रेखा कुमारी मारवाडी ह. साध्वीजी कल्पलता श्रीजी	
११	तेज सिंहजी दोषी	"

,,	सुगानमलजी कन्हैया लालजी	उन्हेल
,,	ताराचन्द जी उमरावसिंहजी जैन	"
,,	विजय सिंहजी साभर	उदयपुर
,,	लेहर चदजी खावीया	"
,,	श्रीमती नजरबाईजी सुरबाईनी सिघटवाडीया ह भवर लालजी सिघटवाडीया	"
,,	श्रीमती मणीबाई मजु कुमारी सुडिया	"
,,	भवरलालजी बहोरा	



७७	७	मिज्जुति	निज्जुति
८४	१७	स्यरुप	स्वरुप
६८	९	क्रीड़ाका	क्रोड़का
९४	१५	देदीत्यमान	देदीप्यमान
९८	१२	श्याय	श्याम
१०२	१०	किसी	किसी को
११९	१५	सम्यगज्ञानादि	सम्यग् ज्ञानादि
१२२	१५	चउत्प्पुडेणं	चउप्पुडेणं
१२६	१०	दूकरे	दूसरे
१२७	४	भाव	....
१२७	५	ममर्पण	समर्पण का भाव

